गोपालचन्द्र चक्रवर्ती द्वारा
भारतधर्म प्रेस, काशीमें मुद्रित ।

निवेदन ।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी अघटन-घटनापटीयसी अज्ञान-जाल-विमोचनी ज्ञान-जननी परमकल्याणमयी धर्म-कर्म-रूपिणी सर्व-शक्तिमयी जगद्धात्रीकी अपार कृपासे कर्ममीमांसा दर्शनका संस्कारपाद अनेक बाधाविपत्तियोंको अतिक्रम करके छपकर प्रकाशित हुआ। इस दर्शन शास्त्रके चार पादोंमेंसे धर्मपाद नामक प्रथमपाद सभाष्य पहले ही प्रकाशित हो चुका है। उस भागके प्रारम्भमें शास्त्रसम्बन्धीय अनेकानेक पुरुषार्थों तथा इस दर्शन सम्बन्धमें बहुत कुछ निवेदन किया गया है।

वर्त्तमान कराल-काल, धर्म-रहस्य-प्रकाशन, सद्धर्ममार्गका पुनः प्रवर्त्तन और तत्त्वज्ञान प्रचारके लिये बहुत ही विपरीत है। अन्तर्जगत्में देवासुर-संग्राम प्रबलवेगसे होते रहनेके कारण उसका प्रभाव इस मृत्युलोक पर अवश्य ही दृढ़रूपसे पड़ता है। इस कारण ऐसे सन्मार्ग प्रवर्तनकार्योंमें अनेक बाधा विपत्तियोंका होना स्वतः सिद्ध है। परन्तु असुर-विजयिनी ब्रह्मशक्ति जगज्जननीकी असीम कृपासे सब बाधा विपत्तियां दूर होकर इस लुप्त शास्त्रके शेष अन्य दोनों पाद सभाष्य शीघ्र ही प्रकाशित हो जायेंगे, ऐसी आशा है।

जब मनुष्य-समाजकी बुद्धि बहिर्मुखिनी होकर केवल इहलोकके सुख और इन्द्रिय लोलुपतामें फंसी रहती है, तब मनुष्य समाज तत्त्वज्ञान और आत्मानुसन्धानको भूलकर केवल शिल्प (आर्ट) और पदार्थविद्या (सायन्स) की उन्नतिमें ही लगा रहता है, और इन दोनोंकी उन्नति करना परम पुरुषार्थ समझता है। आज दिन पृथ्वीभरकी सब मनुष्य जातियां इसी प्रकारसे विपथ-गामिनी हो

रही है । आज कलकी सभ्यताका मानो लक्षण ही यह है कि ईश्वर को भूल जाना, ईश्वरोपासनाकी परम आवश्यकताको न समझना, अन्तर्जगत् और दैवराज्यकी शृङ्खला (आर्गनजेशन) पर विश्वास न रखना, धर्माधर्म माननेकी आवश्यकता और धर्मपथ पर चलनेकी विशेषताके रहस्यको अनुभव नहीं करना, यह संसार केवल स्त्री पुरुष-शृंगार-जनित काम-प्रसूत है, ऐसा समझ कर उच्छृङ्खल और निरङ्कुश हो एकाकारके मार्गमें चलना, स्त्री और पुरुषके विशेष २ अधिकार और धर्मोंको भूलकर दोनोंको एक ही पथमें चलाना, पिता, माता और गुरुजनकी भक्तिको जलाञ्जली देकर शास्त्रविधिपर पदाघात करते हुये अनाचारी और यथेच्छाचारी बनना, धर्म और मोक्षको एक बार ही भूलकर केवल अर्थ और कामके लिये पुरुषार्थ करना इत्यादि । इस आसुरी युगमें सब ओर सब मनुष्य-समाजमें ऐसे ही लक्षण प्रायः दिखाई देते हैं ।

जिस प्रकार केवल शिल्प और पदार्थ विद्याकी उन्नति करनेसे मनुष्यजाति बहिर्मुखिनी हो जाती है, वैसे ही उदार हृदय होकर भगवद्भक्ति और दर्शनशास्त्रके अनुशीलनसे मनुष्यजाति आत्मोन्मुखिनी और अन्तर्मुखिनी होती है। कुछ दिनोंसे दार्शनिक चर्चाके कुछ लक्षण कहीं कहीं दिखाई पड़ने लगे हैं। अनेक योजनव्यापी मरुभूमिमें चलनेवाले पथिकको जब दूरसे सजली भूमि दिखाई देती है, घोर वनमें पथ भूले हुये पथिकको जब दूरसे दीपज्योति दिखाई पड़ने लगती है और जलप्लावनके समय प्रबल-वेगसे नदी-प्रवाहमें बहते हुये जीवनके आशारहित मनुष्यको जब कोई अवलम्बन मिल जाता है, उस समय जैसे घोर निराशामें आशाका-संचार होकर हृदय बलसे बलीयान हो उठता है, ठीक उसी प्रकार इस घोर समयमें जब कि चारा ओर अज्ञान मेघजालने आत्मज्ञान दिवाकरको आच्छादित कर रक्खा, ऐसे तमाश्रित समयमें दैवकृपासे लुप्त वैदिक दर्शनोंका उद्धार तथा अन्यान्य दर्शनोंके सुगम भाष्य प्रकाशन जैसे कार्य्य होते हुये दिखाई

पड़नेसे विचारवान व्यक्तियोंके हृदयमें अवश्य ही कुछ न कुछ आशाका सञ्चार होता है ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके द्वारा कर्ममीमांसा-दर्शन और उपासनामीमांसा-दर्शन इन दोनों लुप्त दर्शनोंका उद्धार हुआ है । न्याय दर्शन, वैशेषिकदर्शन, योगदर्शन, सांख्यदर्शन कर्ममीमांसादर्शन, उपासना-मीमांसा-दर्शन और ब्रह्ममीमांसादर्शन अर्थात् वेदान्तदर्शन, इस प्रकारसे दो पदार्थवाददर्शन, दो सांख्य-प्रवचन-दर्शन और वेदके तीन काण्डोंके अनुसार तीन मीमांसा दर्शनोंपर वर्त्तमान देश-काल-पात्रोपयोगी स्वतन्त्र स्वतन्त्र भाष्य तथा टीकाएं प्रणीत हुये हैं और कई भाषाओंमें उनका अनुवाद भी हुआ है, वे सब क्रमशः प्रकाशित होंगे । भगवद्गीता, दुर्गा सप्तशती गीता आदि कलियुगके उपयोगी प्रधान-प्रधान ग्रन्थोंपर त्रिभावात्मक भाष्य बने हैं । उपनिषदोंपर भी विस्तृत भाष्य प्रणीत हुये हैं । उपासना मार्गके सहायक पञ्चोपासनाकी पांच गीता तथा गुरुगीता और चार योगमार्गकी चार संहिताएं अनुवाद सहित प्रकाशित हुई हैं । ये सब ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित थे । संन्यास आश्रम जो सबसे बड़ा आश्रम है; उसका अनुशासन-ग्रन्थ और पद्धति-ग्रन्थ मिलता नहीं था, इस गुरुतर अभावको दूर करनेके लिये संन्यास गीता अनुवाद सहित कई भाषायोंमें प्रकाशित हुई हैं । और संन्यासियोंके लिये कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंसकी विस्तृत पद्धति शीघ्र प्रकाशित होनेवाली है । धर्म-शिक्षाके लिये अनेक नवीन ग्रंथ कई भाषाओंमें प्रकाशित हुये हैं । सब प्रकारके जिज्ञासुओंकी तृप्तिके लिये धर्मकल्पद्रुम नामक धर्मकोष ग्रंथ आठ बड़े २ खण्डोंमें प्रकाशित हो चुके हैं । इस प्रकारसे अध्यात्मशास्त्र-प्रकाशन, लुप्त दर्शन-शास्त्रोंका उद्धार, नाना भाषाओंमें सब वैदिक दर्शनभाष्योंका निकलना और दर्शन शास्त्रचर्चा एवं प्रचारका विशेष उद्योग देखनेसे यह विश्वास होता है कि, इस घोर नास्तिकतामय कलियुगमें पुनः कुछ कालके लिये शिक्षित मनुष्य-

समाजमें धर्मज्ञान-विस्तार, तत्त्व-ज्ञान-प्रचार और आत्मानुसन्धानकी प्रवृत्ति होगी, जिससे यह नाशवती पृथिवी पुनः धन्य होगी। श्रीजगदम्बाकी कृपासे लुप्त-शास्त्रोंका उद्धार और इसके सभाष्य प्रकाशनके द्वारा केवल वर्णाश्रमधर्मी नर-नारीका ही कल्याण नहीं होगा, बल्कि पृथिवीकी सब सभ्य मनुष्य जातियोंमें जहां-जहां दार्शनिक चर्चाकी सद्वासना है और जहांके विद्वज्जन अन्तर्जगत् और कर्मराज्यकी कुछ खोज करना चाहते हों, सबको यथेष्ट लाभ पहुंचेगा।

॥ इति ॥

भारतधर्मसिण्डिकेट भवन,
वसन्तपञ्चमी
सन् १६२६

श्रीगुरुचरणकमलाश्रित-
दयानन्द ।

ओं तत्सत्।

कर्ममीमांसादर्शन।

संस्कारपाद।

प्रथम पादमें सांगोपाङ्ग धर्मका निर्णय किया गया है। धर्म सर्वथा कर्मके अधीन है। वीजके साथ जैसा वृक्षका सम्बन्ध है, ठीक उसी प्रकार संस्कारके साथ कर्मका सम्बन्ध है इस कारण कर्मके वीज संस्कारका विस्तारित वर्णन करनेके लिये द्वितीयपाद प्रारम्भ किया जाता है: –

कर्मके वीजको संस्कार कहते हैं॥ १॥

वीजाङ्कुरके उदाहरणके अनुसार कर्मका वीज संस्कार है। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

वीजञ्च कर्मणो ज्ञेयं संस्कारो नात्र संशयः।

कर्मका वीज संस्कार जानना चाहिये। जैसे वीजसे वृक्ष और वृक्षसे वीज इस प्रकार सृष्टिका क्रम चलता है, वैसेही सृष्टिक्रियामें कर्मके साथ संस्कारका सम्बन्ध है। जिस प्रकार कृषिके अनन्तर भविष्यत् कृषिके निर्वाहके लिये पूर्व कृषिसे उत्पन्न वीजकी रक्षा की जाती है, वैसेही जीवकृत कर्मके वीजरूपी संस्कार-समूह जिसको कर्माशय कहते हैं वे चिदाकाशमें सञ्चित रहते हैं और जिस प्रकार कृषिकार्य्य होते समय वीजसे अङ्कुरोत्पत्ति करनेके लिये धान्यादि वीजका वपन परिष्कृतभूमिमें किया जाता है और तब अङ्कुरोत्पत्ति होती है; ठीक उसी प्रकार अङ्कुरोन्मुख होनेके लिये प्रारब्ध उत्पादक संस्कार जीवके चित्ताकाशमें संगृहीत हुआ करते हैं और वे वीजवत्‌ही क्रियाशील होते हैं॥ १॥

कर्म्मवीजं संस्कारः॥ १॥

उसका उत्पत्ति स्थान वर्णन किया जाता है:—

ग्रन्थिमें उसका प्राकट्य पिण्डवत् होता है ॥ २ ॥

प्रकृति स्वभावसे परिणामिनी है। प्रकृतिके तरङ्गायित होते समय जब वह तरङ्ग तमकी ओरसे सत्त्वकी ओर जाता है तो, तममें सत्त्वके विकाशका अवसर प्रथम होतेही चित् और जड़की ग्रन्थि उत्पन्न होती है, यही जीवसृष्टि अर्थात् पिण्डसृष्टिका कारण है। इसी चिज्जड़ ग्रन्थिमें सहजात रूपसे संस्कारका उदय होता है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

> मम प्रभावतो देवाः ! व्यष्टिसृष्टिसमुद्भवे ।
> चिज्जड़ग्रन्थिसम्बन्धाज्जीवभावः प्रकाशते ॥
> स्थानं तदेव संस्कार-समुत्पत्तेर्विदुर्बुधाः ।

हे देवगण ! मेरे प्रभावसे व्यष्टिसृष्टि होते समय चित् और जड़की ग्रन्थि बन्धकर जीवभावका प्राकट्य होता है, वही संस्कारोत्पत्तिका स्थान है, ऐसा विज्ञगण समझते हैं।

संसार दो वस्तुसे परिव्याप्त है, एक जड़ और दूसरा चेतन। प्रकृति जड़ा है और पुरुष चेतन है। दोनों ओत प्रोत हैं। चिन्मय पुरुष सत्तामें परिणाम नहीं होता है, परन्तु जड़ा प्रकृति स्वभावसे ही परिणामिनी है, त्रिगुणही उसके परिणामका कारण है। वह परिणाम जड़से चेतनकी ओर और चेतनसे जड़की ओर हुआ करता है। इस वैज्ञानिक रहस्यको अन्य प्रकारसे भी हृदयङ्गम कर सकते हैं। संसारमहासागरका एक तट जड़की पूर्णतारूप परमाण्वादि सत्ता है और उस महासमुद्रका दूसरा तट चिन्मय स्वस्वरूप है। जब परिणामरूपी तरङ्ग चिन्मयभावकी ओरसे पलटा खाता है तो, उस समय जीव इन्द्रियपरायण होकर बन्धन दशाको प्राप्त होकर आवागमन चक्रमें घूमता रहता है। यह परिणाम मनुष्य आदिके जीवत्वकी स्थितिका कारण है और जब वह परिणाम पूर्ण जड़मय परमाणु आदिकी ओरसे पलटा खाता है, अर्थात् स्वभावसे ही परिणामिनी प्रकृति जब घोरतमाश्रित पूर्ण जड़ावस्थासे सत्त्वगुणकी ओर प्रवाहित होती है, क्योंकि एक ओर

ग्रन्थौ तत्प्रादुर्भावः पिण्डवत् ॥ २ ॥

से दूसरी ओर और दूसरी ओरसे पहली ओर रजोगुणके कारण स्वाभाविक रूपसे परिणाम होता रहता है। इन दोनों परिणामोंमेंसे जड़की ओरसे जो चेतनकी ओर परिणाम होता है, वही स्वाभाविक परिणाम ही जीवसृष्टिका कारण है। घोर तमरूप जड़त्वमें रजोगुण-की सहायतासे जो प्रथम परिणाम होता है, उस दशामें सत्त्व-गुणमय चित्सत्ताके विकाशका थोड़ासा अवसर मिलते ही जो चित् तथा जड़की ग्रन्थि वन्ध जाती है, वही जीवका जीवत्व है। जीवपिण्डमें भी चेतनजीवात्मा अपनेको जड़शरीर रूपसे मान लेता है। वहाँ भी वस्तुतः शरीर और शरीरीकी ग्रन्थि वन्ध जाती है। कारणमें जैसे चित्जड़की ग्रन्थि है, पिण्डरूपी कार्य्यमें भी वैसेही चित् और जड़की ग्रन्थि है। अतः इस विज्ञानसे यह सिद्ध हुआ कि, पिण्डके समान कारण अवस्थामें जो जीवभाव-उद्भवकारी प्रथम चिज्जड़ग्रन्थिका आविर्भाव होता है, संस्कारकी प्रथम सृष्टि वहीं होती है। प्रथम चिज्जड़ग्रन्थि वन्धतेही सव आवश्यकीय तत्त्वोंके साथ ही साथ जीवका अन्तःकरण भी कारणरूपसे वनता है। अन्तःकरणके विना संस्कार रहही नहीं सकता है, इस कारण अन्तः-करण वनते ही उसमें स्वतन्त्र सत्तारूपी जो प्रथम संस्कार उत्पन्न होता है, वही संस्कारका आदि है। जिस प्रकार ब्रह्माण्डसे चिज्जड़-ग्रन्थिभावापन्न एक पिण्ड अपनेको पृथक् समझता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है; ठीक उसी प्रकार कारणशरीरप्राप्त प्रथम अवस्थाका जीव-अन्तःकरण जड़राज्य और चेतनराज्य दोनोंसे अपनेको पृथक् मानने लगता है। यह माननाही प्रारम्भिक संस्कारका फल है; अथवा यों कह सकते हैं कि, स्वतन्त्र मानना और प्राथमिक संस्कार उत्पन्न होना यह साथ ही साथ होता है॥ २॥

प्रसङ्गसे सृष्टिका कारण निर्णय किया जाता है:—

संस्कार सृष्टिका कारण है॥ ३॥

पूर्व सूत्रोक्त विज्ञानके अनुसार यह सिद्ध होता है कि, जीव-सृष्टिके साथ ही साथ प्रथम संस्कार भी प्रकट होता है और यह भी पूर्वमें सिद्ध हो चुका है कि, कर्मका वीज संस्कार है।

तन्निमित्ता सृष्टिः॥ ३॥

संस्कारसे कर्मकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि श्रुति कहती है "यथा पूर्वमकल्पयत्" अर्थात् पूर्व संस्कारसे सृष्टि होती है और स्मृति शास्त्र भी कहता है:—

"सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम्" ।

संस्कार ही सृष्टिका मूल कारण है। प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनके द्वारा स्वतः ही जीवपिण्डकी सृष्टि होती रहती है। जीवपिण्ड पुनः क्रमाभिव्यक्तिके नियमके अनुसार उद्भिजसे स्वेदज स्वेदजसे अण्डज अण्डजसे जरायुज तदनन्तर मनुष्य-पिण्ड और देवपिण्ड आदिको धारण करता हुआ सृष्टि प्रवाहको प्रवाहित करता रहता है। प्रथम जीवसृष्टि होते ही सहजात प्रथम संस्कार उत्पन्न होकर क्रमशः वहां संस्कार नाना रूप धारण करता हुआ अक्षुण्ण रहता है। व्यष्टि पिण्डसृष्टिसे ही समष्टि ब्रह्माण्डसृष्टि सम्बन्ध रखती है। सुतरां यह माननाही पड़ेगा कि, व्यष्टि संस्कारसे पिण्ड और समष्टि संस्कारसे ब्रह्माण्ड-की सृष्टि हुआ करती है। इस कारण संस्कार ही सृष्टिका कारण है ॥ ३ ॥

अब उसके भेद कह रहे हैं:—

संस्कार दो प्रकारका होता है ॥ ४ ॥

वस्तुतः जीवकी स्वाभाविकगतिको दो भागमें विभक्त कर सकते हैं। एक तो स्वभावसे विमुख गति जो जीवको ब्रह्मके स्वस्वरूपसे पृथक् करती है, दूसरी वह गति जो ब्रह्मके स्वस्वरूपकी ओर ले जाती है। इन्हीं दो स्वाभाविक जीवगतियोंके पोषक सृष्टि-कारणरूप संस्कार भी दो भागोंमें विभक्त हैं ॥ ४ ॥

अब प्रथम संस्कारका स्वरूप कहा जाता है:—

स्वाभाविकसंस्कार मुक्तिका कारण होता है ॥ ५ ॥

संस्कारके दो भेदोंमेंसे एक स्वाभाविक कहाता है जो संस्कार मुक्तिका कारण हुआ करता है। स्मृति शास्त्रमें भी कहा है:—

स द्विविधः ॥ ४ ॥
स्वाभाविकान्मुक्तिः ॥ ५ ॥

प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः ।
स्वाभाविको हि भो देवाः ! प्राकृतः कथ्यते बुधैः ॥
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते ।
स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तत्र मोक्षस्य कारणम् ॥

संस्कार दो प्रकारके होते हैं, प्राकृत और अप्राकृत । हे देवगण ! विज्ञगण प्राकृतको स्वाभाविक और अप्राकृतको अस्वाभाविक कहते हैं । उनमें स्वाभाविकसंस्कार मुक्तिका कारण है । जब जीव सृष्टि स्वाभाविक है जैसा कि, पूर्व विज्ञानसे सिद्ध हुआ है, तो जीवका सहजात जो संस्कार है, वह भी स्वाभाविक होगा इसमें सन्देह ही क्या है । ब्रह्मप्रकृतिकी स्वाभाविक त्रिगुणात्मक चेष्टाके अनुसार सृष्टि स्थिति लयकी क्रिया स्वतः ही हुआ करती है, उसी स्वाभाविक नियमके अनुसार वह संस्कार जीवका क्रमशः अभ्युदय कराता हुआ उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज, अण्डजसे जरायुज और क्रमशः अनार्य्य प्रजासे आर्य्यप्रजा, शूद्रसे वैश्य, वैश्यसे क्षत्रिय, क्षत्रियसे ब्राह्मण पुनः ब्रह्मचर्य्यसे गृहस्थ गृहस्थसे वानप्रस्थ और वानप्रस्थसे संन्यास तथा कुटीचक, वहूदक, हंस और अन्तमें परमहंस गतिको प्राप्त कराके जीवन्मुक्त पदवीको प्राप्त कराता है। इस प्रकारसे वह संस्कार ही यथाक्रम ज्ञानकी श्रेणीमें अग्रसर कराता हुआ आत्मज्ञान प्राप्त कराकर मुक्त कर देता है, वही संस्कार स्वाभाविक कहाता है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, बीज और अङ्कुरके सदृश संस्कार और कर्मका सम्बन्ध है अतः संस्कारके बलसे ही कर्म अग्रसर होता है, इस कारण एकरस रहने वाला जो संस्कार जीवको बाधाके विना आगे ही बढ़ाकर स्वस्वरूपकी ओर ले जाता ही रहता है, वही निर्विकार शुद्धसंस्कार स्वाभाविक कहाता है और वही मुक्तिका कारण है, इसमें सन्देह नहीं है, इस विषयमें स्मृति, शास्त्रने कहा है कि—

धर्मस्य धारिका शक्तिस्तस्य चाभ्युदयप्रदः ।
क्रमः कैवल्यदश्चैव सहजे प्राकृते शुभे ॥

नित्यं जागर्त्ति संस्कारे प्राणिनां हितसाधके ।
विश्वकल्याणदे नित्ये सर्वश्रेष्ठे मनोरमे ॥

धर्मकी धारिका शक्ति और उसका अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदानका क्रम प्राणियोंके हित साधक, संसारके कल्याणकारक, नित्य, शुभ, सर्वश्रेष्ठ और मनोरम सहजात स्वाभाविक संस्कारमें नित्य बना रहता है ॥ ५ ॥

अब द्वितीय संस्कारका स्वरूप कहा जाता हैः—

अस्वाभाविकसंस्कारसे बन्धन हुआ करता है ॥ ६ ॥

अस्वाभाविक संस्कार जीवका सहजात नहीं है, इस कारण वह अस्वाभाविक कहाता है और यही संस्कार जीवके बन्धनका कारण तथा आवागमन चक्रके स्थायी रखनेका कारण होता है । इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी कहा हैः—

अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च ।
अस्वाभाविकसंस्कारा जीवान् बध्नन्ति निश्चितम् ॥

अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका कारण हुआ करता है और यह निश्चित है कि, अस्वाभाविक संस्कार ही जीवको बन्धन दशा प्राप्त कराता है ।

स्वाभाविक संस्कार और अस्वाभाविक संस्कारके भेदको स्पष्ट करनेके लिये यह समझाया जाता है कि, जगत्प्रसवित्री ब्रह्म प्रकृतिके स्वभावसिद्ध तीन गुणोंके अनुसार परिणाम होना निश्चित है, उस परिणामके कारण कर्मकी सृष्टि, जीवकी सृष्टि और स्वाभाविक संस्कारकी सृष्टि होना स्वभाव सिद्ध और निश्चित ही है, परन्तु अस्वाभाविक संस्कार इससे विपरीत है । अस्वाभाविक संस्कार तब उत्पन्न होने लगता है, जब मनुष्यपिण्डमें आकर जीव स्वाधीन हो जाता है, अपनी इच्छासे बलपूर्वक अपनी प्रकृतिको चलाकर नवीन अस्वाभाविक क्रिया करने लगता है । उस समय पञ्चकोषोंकी पूर्णतासे मनुष्यपिण्डधारी जीव अपनी इच्छा शक्तिको बलवती करके अस्वाभाविक रूपसे अपनी इन्द्रियोंको चालन करने लगता है । तभी नये कर्मके साथ ही

अस्वाभाविकाद्बन्धनम् ॥ ६ ॥

साथ जो नये प्रकारके संस्कार उत्पन्न होते हैं, वे ही अस्वाभाविक संस्कार कहाते हैं और मूल प्रकृतिके विरुद्ध तथा मनुष्य प्रकृतिके द्वारा बलपूर्वक संगृहीत ये नये प्रकारके अस्वाभाविक संस्कार नये नये जाति-आयुभोग उत्पन्न करते हैं। इसीसे जीव बन्धन दशाको प्राप्त होकर आवागमन चक्रमें परिभ्रमण करता रहता है ॥ ६ ॥

स्वाभाविक संस्कारकी विशेष महिमा कही जाती है:—

स्वाभाविक संस्कारसे त्रिविध शुद्धि होती है ॥ ७ ॥

इस दर्शन विज्ञानके लक्ष्यको लक्षित करानेके अभिप्रायसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि, स्वाभाविक संस्कार अद्वैत भावापन्न, एकरस होता हुआ वह अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि रूपी त्रिविध शुद्धिप्रद है। त्रिविध शुद्धिप्रद तत्त्व अवश्य ही मुक्तिप्रद हुआ करता है; क्योंकि त्रिविध शुद्धि क्रमशः स्वतः ही स्वस्वरूपमें पहुंचा दिया करती है। इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, स्वाभाविक संस्कारके द्वारा जीवकी क्रमोन्नति और अन्तमें मुक्ति अवश्य सम्भावी होनेके कारण उसमें अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि तीनोंका नियमित होते रहना स्वभावसिद्ध है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

स्वभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति ।

स्वाभाविक संस्कारसे त्रिविध शुद्धि होती है ॥ ७ ॥

त्रिविध शुद्धिके प्रसङ्गसे उसकी विशेषता कही जाती है:—

अद्वितीय होनेपर भी उसका प्रकाश षोड़शकलाओंमें होता है ॥ ८ ॥

जिस प्रकार चन्द्रमा प्रतिपदासे लेकर पूर्णिमापर्य्यन्त एक एक कलाके क्रम विकाशके द्वारा अन्तमें षोड़शकलासे पूर्ण हो जाता है, उसी उदाहरणके अनुसार यह समझना उचित है कि, स्वाभाविक

त्रिविधशुद्धिराद्यात् ॥ ७ ॥
एकस्यापि षोड़शकलाप्रकाशः ॥ ८ ॥

संस्कार अपने अभ्युदय और निःश्रेयसकारी शक्तिकी पूर्णताको क्रम-विकाशके द्वारा प्राप्त हुआ करता है। यह पूर्ण विकाश स्वाभाविक-रूपसे ही होता है और साधनकी सहायतासे भी होता है। स्वाभा-विकरूपसे क्रमविकाशका उदाहरण इस प्रकारसे समझा जासकता है, यथा-उद्भिज्जत्वसे स्वेदजत्व, स्वेदजत्वसे अण्डजत्व, अण्डजत्वसे जरायुजत्व, जरायुजत्वसे अनार्य्यमनुष्यत्व, अनार्य्यमनुष्यत्वसे शूद्रत्व, शूद्रत्वसे वैश्यत्व, वैश्यत्वसे क्षत्रियत्व, क्षत्रियत्वसे ब्राह्मणत्व, ब्राह्मणत्वमें ब्रह्मचर्य्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और तदनन्तर सन्न्यासके कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस, इस प्रकारसे सोलह सन्धियोंके द्वारा अद्वितीय स्वाभाविक संस्कार स्वतः परिस्फुटित होकर पूर्ण हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि, मनुष्ययोनिमें पूर्णकलाको प्राप्त करना केवल साधन-के ही अधीन है, तथापि उदाहरणके लिये ये सोलह सोपान दिखाये गये हैं। इसी उदाहरणके अनुसार मनुष्ययोनिसे देवयोनि-पर्य्यन्त अन्य प्रकारके सोपान भी हो सकते हैं, परन्तु पूर्णकलाका विकाश अन्तमें सम्पूर्णरूपसे साधनके अधीन ही रहेगा। वह साधन अवश्य ही तप, योग और ज्ञानमूलक समझना चाहिये। दूसरी ओर वेदविहित कर्मसे सम्बन्धयुक्त जो स्वाभाविक संस्कार-का क्रमविकाश वैदिक षोड़श संस्कारोंसे माना गया है, अर्थात् साधनकी सहायतासे पुरुषार्थ द्वारा वेदोक्त रीतिसे जो अस्वाभा-विक संस्कारकी गतिको रोध करके जो स्वाभाविक संस्कारके षोड़श कलाका विकाश किया जाता है, जिसका विस्तारित विव-रण आगे आवेगा उसके विषयमें स्मृति शास्त्रमें ऐसा कहा है:—

स्वाभाविकी यदा भूमिः संस्कारस्य प्रकाशते ।
यच्छन्त्यभ्युदयं नृभ्यो दद्यान्मुक्तिमसौ क्रमात् ॥
एतावच्छ्रौतसंस्कार-रहस्यमवधार्य्यताम् ।
वेद्या भवद्भिरप्येषा श्रुतिर्देवाः ! सनातनी ॥
संस्कारेष्वहमेवास्मि वैदिकेष्वखिलेष्वहो ।
स्वसम्पूर्णकलारूपैस्तन्नॄन् स्वाभिमुखं नये ॥
गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तोन्नयनं तथा ।
जातकर्म तथा नाम-करणञ्चान्नप्राशनम् ॥

चूड़ोपनयने ब्रह्म-व्रतं देवव्रतं तथा ।
समावर्त्तनमुद्वाहोऽग्न्याधानं विबुधर्षभाः ! ॥
दीक्षा महाव्रतश्चान्त्यः सन्न्यासः षोड़शो मतः ।
संस्कारा वैदिका ज्ञेया उक्तषोड़शनामकाः ॥
अन्ये च वैदिकाः स्मार्त्ताः पौराणास्तान्त्रिकाश्च ये ।
एषु षोड़शसंस्कारेष्वन्तर्भुक्ता भवन्ति ते ॥

स्वाभाविक संस्कारकी भूमि जब प्रकट होती है, तो वह क्रमशः मनुष्योंको अभ्युदय प्रदान करती हुई अन्तमें मुक्ति देती है, हे देवतागण ! आप लोग यही वैदिक संस्कारका रहस्य और सनातनी श्रुति समझें। सब वैदिक संस्कारोंमें मैं ही अपनी पूर्ण-कलारूपसे विद्यमान हूं, अतः अपनी ओर मनुष्यको आकर्षित करती हूं। उक्त षोड़श संस्कारोंके नाम ये हैंः—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौलकरण, उपनयन, ब्रह्मव्रत, देवव्रत, समावर्तन, उद्वाह, अग्न्याधान, दीक्षा, महाव्रत और अन्तिम सन्न्यास सोलहवां है। अन्यान्य वैदिक, स्मार्त, पौराणिक और तान्त्रिक संस्कार इन्हीं सोलह संस्कारोंके अन्तर्भुक्त हैं। सारांश यह है कि, स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्ति चन्द्रमाके समान होती है, चाहे स्वतः हो अथवा साधनके द्वारा हो, उस संस्कारका रूप एक ही है; क्योंकि उसमें बाधा उत्पन्न करनेवाला कोई भी जैवकर्म मिश्रित नहीं हो सक्ता है। वह केवल प्रकृतिके सहजात एकतत्वरूपी है और उसका क्रमशः विकाश होकर वह पूर्णताको प्राप्त होता है। उसका जैसा जैसा विकाश होता जाता है, वैसी वैसी त्रिविध शुद्धिकी प्राप्ति होती जाती है और अन्तमें त्रिविध शुद्धिकी पूर्णता होकर मुक्तिपदका उदय हो जाता है ॥८॥

अस्वाभाविक संस्कारका स्वरूप कहा जाता हैः—

सृष्टिवैचित्र्यके कारण अस्वाभाविक संस्कार अनन्त हैं ॥ ९ ॥

स्वाभाविक संस्कार जब अपने आप ही प्राकृतिक तरङ्गकी

द्वितीयस्याऽनन्त्यं सृष्टिवैचित्र्यात् ॥ ९ ॥

सहायतासे प्रस्फुटित होता हुआ जीवको मनुष्ययोनिमें पहुंचा देता है, तब मनुष्य पंचकोषकी पूर्णतासे पूर्णशक्तिविशिष्ट होकर स्वयं नवीन संस्कार संग्रह करनेके उपयोगी अधिकारको प्राप्त हो जाता है और इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्तिको अपने अधीन करके नये ढंगके नाना संस्कारोंका संग्रह करता है, यही नवीन संस्कार-समूह अस्वाभाविक कहाते हैं और वासनावैचित्र्यके कारण वे अनन्त होते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

अनन्तास्तस्य विज्ञेया भेदा बन्धनहेतवः ॥

जीवके बन्धनकारक ये भेद बहुत होते हैं। प्रकृतिके प्रवाहसे उत्पन्न होनेसे स्वाभाविक संस्कार एक है और मनुष्यकी इच्छासे उत्पन्न होनेसे अस्वाभाविक संस्कार अनन्त हैं; क्योंकि, मनुष्यों-की प्रकृतिके वैचित्र्यके कारण वासनावैचित्र्य और वासनावैचित्र्यके कारण संस्कारवैचित्र्य होना स्वतः सिद्ध है। प्रकृतिके तीनों गुणोंके घातप्रतिघातसे वैषम्यावस्था प्रकृति अनन्त वैचित्र्यको धारण करती है; इस कारण मनुष्य-प्रकृति भी अनन्तरूपको प्राप्त होती है; अतः अस्वाभाविक संस्कारोंका भी अनन्त रूप होना सिद्ध ही है ॥ ९ ॥

उसका प्रारम्भ कहांसे होता है, सो कहा जाता है:—

मनुष्ययोनिमें उसका प्रारम्भ होता है ॥ १० ॥

स्वाभाविक-संस्कारका प्रारम्भ जिस प्रकार प्राकृतिक लीलाराज्य-रूपी महासागरके चिज्जड़ग्रन्थिरूपी बुद् बुद्में होता है, उसी प्रकार अस्वाभाविक संस्कार मनुष्यकी योनिमें आनेपर प्रारम्भ होता है। चिज्जड़ग्रन्थि की संधि, उद्भिज्जसे स्वेदजयोनिमें आनेकी सन्धि, स्वेद-जसे अण्डजयोनिमें आनेकी सन्धि और अण्डजसे जरायुजयोनिमें आनेकी सन्धि, इन चार सन्धियोंमें जीव पराधीन ही रहता है और तदनन्तर मनुष्ययोनिमें पहुँचनेकी सन्धिमें स्वाधीनताका अधि-कार प्राप्त करके मनुष्ययोनिमें पहुंचते ही इच्छाशक्ति और क्रिया-शक्तिके विचारसे स्वाधीनता लाभ कर लेता है। इसी स्वाधी-नताके साथही साथ उसके भीतरकी वैचित्र्यपूर्ण वासनाओंके अनुसार उसमें अस्वाभाविक संस्कार संग्रह होने लगते हैं।

मानवे तदारम्भः ॥ १० ॥

तात्पर्य्य यह है कि, मनुष्यदेहमें जीवत्वकी पूर्णता होनेपर जब कर्म उत्पन्न होता है तब वहाँ उसी समय अस्वाभाविक संस्कारका प्रवाह प्रवाहित होता है ॥ १० ॥

उसके अवयव कहे जाते हैं:—

उसके तीन अवयव हैं ॥ ११ ॥

त्रिगुणात्मक सृष्टिके स्वाभाविक तीन तीन भेदके अनुसार मनुष्यका अस्वाभाविक संस्कार भी तीन अवयवोंमें विभक्त है। उन तीनोंके नाम, यथा—सञ्चितसंस्कार, क्रियमाणसंस्कार और प्रारब्धसंस्कार है। मनुष्य अपनी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके द्वारा प्रतिमुहूर्त्त जो अगणित नवीन संस्कार संग्रह करता जाता है और जो संस्कारसमूह उसके चिदाकाशमें अङ्कित होते जाते हैं, वे ही एकत्रित संस्कारसमूह सञ्चित कहे जाते हैं। ये संस्कार अङ्कुरोन्मुख होकर नहीं रहते हैं, किन्तु भण्डारमें अन्नबीजके संग्रहके सदृश संगृहीत रहते हैं। उन सञ्चित संस्कारसमूहसे जो संस्कार जीवके एक जन्मके उपयोगी भोग उत्पन्न करनेके अर्थ एक विशेष जाति, आयु और भोग उत्पन्न करनेके लिये अङ्कुरोन्मुख होते हैं, वे संस्कारसमूह प्रारब्ध कहाते हैं। प्रत्येक जन्ममें मनुष्य प्रारब्ध भोगता हुआ जो नवीन संस्कार संग्रह करता है, वे संस्कारसमूह क्रियमाण संस्कार कहाते हैं। इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

> दुर्दमा कर्म्मणः शक्तिस्त्रिधाऽऽवध्नाति प्राणिनः।
> तत्प्रकारत्रयं नूनं देवाः! वेदेषु वर्त्तते॥
> ख्यातं सञ्चितप्रारब्धक्रियमाणाभिधैर्ननु।
> यत्क्षणात् संसृतावादौ जीवैर्जीवत्वमाप्यते॥
> तावन्तं कालमारभ्य संस्कारा जैव कर्म्मणः।
> यावन्तः संप्रगृह्यन्ते सञ्चितं कर्म्म ताञ्जगुः॥
> ये फलोन्मुखसंस्कारा जात्यायुर्भोगरूपकम्।
> तथा जीवप्रकृत्यादिफलं दातुं मुहुर्मुहुः॥

स तु अवयवः ॥ ११ ॥

जनयन्ते वपुःस्थूलं तान् प्रारब्धं प्रचक्षते।
स्थूलदेहान्विता जीवा नैजीं जैवीं हि वासनाम्॥
सन्तृप्त्या सफलां कर्तुं नूतनं कर्म्म कुर्वते।
तत्त्वज्ञानविनिष्णातैः क्रियमाणं तदुच्यते॥

कर्मकी दुर्दमनीय शक्ति तीन प्रकारसे जीवोंको आबद्ध करती है, उन प्रकारोंका नाम वेदोंमें ही हे देवतागण! सञ्चित प्रारब्ध और क्रियमाण नामसे ख्यात है। संसारमें प्रथम जीवोंको जीवत्व प्राप्ति जबसे हुई है, तबसे जिन जैवकर्म्मोंका-संस्कार उन्होंने संग्रह किया है, वे सब सञ्चित कहाते हैं। जो फलोन्मुख संस्कार जाति, आयु, भोग और जीव-प्रकृति आदि फल वारंवार देनेके लिये स्थूल शरीर उत्पन्न करता है, वह प्रारब्ध कहाता है और जीव स्थूल शरीरसे युक्त होकर अपनी जैवी वासनाकी तृप्तिके लिये जो नवीन कर्म करता है तत्त्वज्ञानी उसको क्रियमाण कहते हैं॥ ११॥

उसके प्रधान कार्य्यका वर्णन किया जाता है—

उससे आवागमनचक्रका आविर्भाव होता हैं॥ १२॥

चिज्जड़ग्रन्थिमय जीव अपनी प्रारम्भ अवस्थासे लेकर उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज श्रेणियोंमें अनेक वार भ्रमण करता हुआ बाधाके विना क्रमोन्नति करता रहता है और अन्तमें मनुष्ययोनिमें पहुंचकर अस्वाभाविक संस्कार संग्रह करनेके कारण उसकी क्रमोन्नतिमें बाधा उपस्थित होती है और यही बाधा आवागमनचक्रका कारण है। नवीन अस्वाभाविक संस्कारसमूह उसके लिये नवीन नवीन जाति, आयु और भोग उत्पन्न कराते रहते हैं और उसको स्वाभाविक संस्कारकी सहायतासे आगे बढ़नेसे रोकते हैं। इस विषयमें स्मृति शास्त्रमें ऐसा कहा है—

सृष्टेः संस्कार एवास्ति कारणं मूलमुत्तमम्।
प्राकृतोऽप्राकृतश्चैव संस्कारो द्विविधो मतः॥

तस्मादाविर्भाव आवागमनचक्रस्य॥ १२॥

स्वाभाविको हि भो देवाः ! प्राकृतः कथ्यते बुधैः ।
अस्वाभाविकसंस्कारस्तथाऽप्राकृत उच्यते ॥
स्वाभाविकोऽस्ति संस्कारस्तत्र मोक्षस्य कारणम् ।
अस्वाभाविकसंस्कारो निदानं बन्धनस्य च ॥
स्वाभाविको हि संस्कारस्त्रिधा शुद्धिं प्रयच्छति ।
देवाः ! षोडशभिः सम्यक् कलाभिर्मे प्रकाश्यते ॥
मुक्तिप्रदोऽद्वितीयोऽपि संस्कारः प्राकृतो ध्रुवम् ।
साहाय्यात् षोडशानाम्मे कलानां कर्म्मपारगाः ॥
ऋषयः श्रौतसंस्कारैः शुद्धिं षोडशसङ्ख्यकैः ।
आर्य्यजातेर्विशुद्धाया ररक्षुर्यत्नतः खलु ॥
अस्वाभाविकसंस्कारा जीवान् बध्नन्ति निश्चितम् ।
अनन्तास्तस्य विज्ञेया भेदा बन्धनहेतवः ॥
स्वाभाविकी यदा भूमिः संस्कारस्य प्रकाशते ।
यच्छन्त्यभ्युदयं नृभ्यो दद्यान्मुक्तिमसौ क्रमात् ॥

संस्कार ही सृष्टिका प्रधान मूल कारण है। संस्कार दो प्रकारके होते हैं प्राकृत और अप्राकृत। हे देवगण! विज्ञलोग प्राकृतको स्वाभाविक और अप्राकृतको अस्वाभाविक कहते हैं। उनमें स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका कारण होता है। स्वाभाविक संस्कार त्रिविध शुद्धि देते हैं। स्वाभाविक संस्कार अद्वितीय और मुक्तिप्रद होनेपर भी हे देवगण! वह मेरी षोडशकलाओंसे भलीभांति निश्चय प्रकाशित होता है। मेरी षोडश कलाओंको अवलम्बन करके कर्म्मके पारदर्शी ऋषियोंने वैदिक षोडश संस्कारोंसे पवित्र आर्य्यजातिको यत्नपूर्वक शुद्ध रक्खा है। अस्वाभाविक संस्कार जीवोंको नियमित बाँधा ही करते हैं, उनके बन्धनकारक भेद अनन्त हैं। स्वाभाविक संस्कारकी भूमि जब प्रकट होती है तो वह क्रमशः मनुष्योंको अभ्युदय प्रदान करती हुई अन्तमें मुक्ति देती है ॥ १२ ॥

चक्रके विस्तारका स्वरूप वर्णन किया जाता है:—

उसका आवर्त्तन मृत्युलोकसे प्रेतलोकमें होता है ॥१३॥

तच्चङ्क्रमणं मृत्युतः प्रेतावधि ॥१३॥

मनुष्ययोनिमें आकर जीव जब पञ्चकोषोंकी पूर्णता प्राप्त करके पूर्णावयव हो जाता है और स्वतन्त्र क्रियाशक्ति और इच्छाशक्तिके बलसे अस्वाभाविक संस्कार संग्रह करके अस्वाभाविक भोगका अधिकारी बन जाता है, तब वह अनार्य्य अवस्थाका असभ्य मनुष्य स्थूलशरीर त्याग करनेके अनन्तर प्रथम प्रेतलोकमें जाने आने लगता है; अर्थात् इन्द्रियोंकी उद्दामप्रवृत्ति और उनमें अस्वाभाविक आसक्तिके कारण तीव्र वासनाके बलसे इसी मृत्युलोकमें फंसे रहनेसे मृत्युके अनन्तर इसीके साथ संश्लिष्ट जो सूक्ष्म प्रेतलोक है, उसीमें ही रह जाता है, आगे नहीं जाता है। उस समय प्रेतलोकसे ही भोगकी समाप्ति होनेपर वह पुनः मृत्युलोकमें जन्म लेता है। इस प्रकारसे इस प्रथम दशामें वह आवागमनचक्र केवल प्रेतलोकतक ही विस्तृत हो जाता है ॥१३॥

चक्रकी क्रमप्राप्त गति कही जाती है:—

उसका विस्तार नरकसे पितृलोक तक होता है ॥ १४ ॥

क्रमशः मनुष्य वारवार कर्मभूमि मृत्युलोकमें जन्मग्रहण करके अनार्य अवस्थासे जब कुछ अधिक योग्यता प्राप्त करता है, क्योंकि कर्मभूमि स्वतः ही मनुष्यको कर्म करनेका अवसर देती है, तब वह जीव सुख दुःख प्राप्तिके कारणरूप सदसत् कर्मका ज्ञान क्रमशः प्राप्त करके अधिक रूपसे पुण्य और पापका अधिकारी बन जाता है और मृत्युके अनन्तर उसकी आत्मा केवल प्रेतलोकमें ही नहीं पहुंचती, किन्तु और आगे जा सकती है। वह पापभोगके लिये नरक लोक तक और पुण्यभोगके लिये पितृलोकतक पहुँचा करती है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है।

परिधिस्तस्य चक्रस्य द्विधा भिन्नोऽस्त्यसंशयम्।
तत्रैकः प्रेतलोकोऽस्ति मृत्युलोकोऽपरस्तथा॥
असौ चक्रस्य परिधिः पितृलोकावधि क्रमात्।
विस्तीर्य्य प्रथमं पश्चान्नरके स्वरपि ध्रुवम्॥

आवागमनचक्रकी परिधि दो प्रकारकी होती है। एक मृत्युलोकसे प्रेतलोक पर्य्यन्त और पुनः नरक-

तत्प्रसरति नरकतः पितृलोकम्॥१४॥

लोकसे पितृलोक पर्य्यन्त विस्तृत होती है। उस जीवकी ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति इन दोनोंकी वृद्धिके साथ साथ उसका प्रातिभाव्य भी बढ़ जाता है। इस कारण वह पुण्य और पापका पूरा अधिकारी बननेसे उसके आवागमनचक्रकी परिधि अधिक विस्तृत हो जाती है। जैसे बाल्यावस्थामें अज्ञान और असमर्थताके कारण मनुष्य पापपुण्यका विशेष अधिकारी नहीं होता है, उसी प्रकार पूर्वसूत्र कथित अवस्थामें जीवके भोगचक्रकी परिधि छोटी रहती है; परन्तु इस उन्नत अवस्थामें उच्च अधिकारप्राप्तिके साथही साथ भोग चक्रकी परिधि भी विस्तृत हो जाती है। चतुर्दश भुवनोंमेंसे भूलोक एक भुवन है, अर्थात् ब्रह्माण्डके चतुर्दश अंशोंमेंसे भूलोक एक चतुर्दशवाँ अंश है। वही भूलोक चार भागोंमें विभक्त है। उन चार भागोंका नाम, यथा— मृत्युलोक, नरकलोक, प्रेतलोक और पितृलोक। हमारा यह लोक मृत्युलोक कहाता है, क्योंकि इस लोकमें मातृगर्भसे जीव जन्म लेते हैं और मृत्युको प्राप्त होते हैं। इसीके साथ संश्लिष्ट प्रेतलोक है, जो हमारे चारों ओर है। मृत्यु लोकके साथका दुःख भोग कराने वाला लोक नरक लोक कहाता है और इसी लोकके साथका साधारण सुखभोग कराने वाला लोक पितृलोक कहाता है। इस अवस्थाको प्राप्त करके जीव इन चारों लोकोंमें आवागमन चक्रके द्वारा जाने आनेकी योग्यता प्राप्त करता है ॥ १४ ॥

अब क्रमप्राप्त सर्वोन्नत गति कही जाती है:—

चतुर्दश भुवनोंमें उसकी विस्तृति होती है ॥ १५ ॥

जब मनुष्य अपनी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्तिके अधिकारको बहुत बढ़ा लेता है, तब वह सुख भोगके लिये ऊपरके सात लोकोंमेंसे अवशिष्ट भुवः, स्वः, महर्लोक आदि छः लोक और अतल, वितल, आदि नीचेके सातों लोक इस प्रकारसे चतुर्दश भुवनोंमें भोगके लिये आवागमन चक्रके द्वारा जाता है और पुनः मृत्युलोकमें आता है। पितृलोक तथा ऊपरके छः लोक इस प्रकारसे ये सातों लोक दैव सुख भोगके लोक हैं और नीचेके सातलोक आसुरी सुख भोगके लोक हैं। इस सूत्रोक्त विज्ञानका तात्पर्य्य यह है कि, जीव इस उन्नत अव-

विस्तृतिश्चतुर्दशभुवने ॥ १५ ॥

स्थाको प्राप्त करके अस्वाभाविक संस्कारके असाधारण बलसे अपने आवागमन चक्रकी गतिको इतना बढ़ा लेता है कि, अपनी भोग समाप्तिके लिये चतुर्दश भुवनोंके सब स्थानोंमें जाना आना कर सक्ता है। इस विषयमें स्मृति शास्त्रमें ऐसा कहा हैः—

तमःप्रधानं प्रथमं चक्रमेतदनन्तरम्।
तमोरजःप्रधानञ्च रजःसत्त्वप्रधानकम्॥
शुद्धसत्त्वप्रधानं हि जायते तदनन्तरम्।
ऊर्द्ध्वलोकं ततो मृत्युलोकं व्याप्नोति केवलम्॥
परिधिस्तस्य चक्रस्य ततोऽन्ते मयि लीयते।
मृत्युलोके गतिस्तस्य स्वतोहि सहजा सती॥
अथवाऽऽसाद्य शुक्लत्वं सत्यलोकावधि ध्रुवम्।
गत्वा तत्र तदैवाशु सर्वथैव प्रशाम्यति॥

यह आवागमन चक्र प्रथम तमःप्रधान तदनन्तर तमोरजः प्रधान तदनन्तर रजःसत्त्वप्रधानही हो जाता है। तदनन्तर उस चक्रकी परिधि केवल ऊर्द्ध्वलोक और मृत्युलोक व्यापीही रहती है और अन्तमें वह चक्र मुझमें लयको प्राप्त होता है। उस समय ही उस चक्रकी गति शीघ्र स्वतः ही सहज होकर या तो मृत्युलोकमें ही शान्त होती है अथवा शुक्लताको प्राप्त करके सत्यलोक तक ही पहुंचकर वहां सर्वथा ही शान्त होती है॥ १५॥

दूसरेकी असम्पूर्णता वर्णनकी जाती हैः—

अस्वाभाविक संस्कारसे चक्रभेदन नहीं होता है॥ १६॥

जो पदार्थ चक्र बनाता है वह चक्र भेदन नहीं कर सकता है। जो जिस पदार्थका उत्पादक है वह उस पदार्थका विनाशक नहीं हो सकता है, इस कारण अस्वाभाविक संस्कार आवागमनचक्रके भेदन करनेमें सर्वथा असमर्थ है। धर्मकी दो उपकारिता है, ऐहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय कराना और दूसरा निःश्रेयस कराना, इनमेंसे अस्वाभाविक संस्कार अभ्युदय करा सकता है, किन्तु निःश्रेयस नहीं करा सकता है। समष्टि जीवके वासना-पुञ्जके द्वाराही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुआ करती है, वह वासना

द्वितीयो नाऽलं चक्रभेदाय॥ १६॥

अस्वाभाविक संस्कार मूलक है। सुतरां अस्वाभाविक संस्कारके बलसे अभ्युदय प्राप्त करता हुआ जीव एक ब्रह्माण्डके चतुर्दश भुवनोंमें सर्वत्र पहुंच सकता है, परन्तु उसको फिर फिरकर आवागमनचक्रके द्वारा मृत्युलोकमें आना पड़ेगा, क्योंकि आवागमनचक्र अस्वाभाविक संस्कार मूलक है और अस्वाभाविक संस्कार जैववासनामूलक है। जबतक जीव अपनी वासनाका नाश करके प्राकृतिक स्वाभाविक संस्कारप्रवाहमें आत्मसमर्पण नहीं करेगा, तबतक वह आवागमनचक्रभेदन करके मुक्तिपद प्राप्त नहीं कर सकेगा। श्रीगीतोपनिषत्में कहा है किः—

> व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।
> बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धि एक तथा अद्वितीय होती है और अव्यवसायात्मिका बुद्धि बहुशाखाओंसे युक्त अनन्त होती हैं।

इस उदाहरणके अनुसार कहा जासकता है कि, जिस प्रकार व्यवसायात्मिका बुद्धि एक अद्वितीय होनेसे वह मुक्तिका कारण होती है और अव्यवसायात्मिका बुद्धि बहुशाखाओंसे युक्त तथा अनन्त होनेसे वह बन्धनका कारण होती है, उसी प्रकार एकतत्त्वसे युक्त स्वाभाविक संस्कार जीवको यथानियम अग्रसर करता हुआ मुक्तिभूमिमें पहुँचा देता है; परन्तु अनन्त शाखाओंसे युक्त अस्वाभाविक संस्कार अपने बहुत्वके कारण जीवको सदा आवागमनचक्रमें फँसाए रखता है और निकलने नहीं देता है ॥ १६ ॥

चक्रभेदनमें कौन समर्थ है, वह कहा जाता हैः—

अबाधित होनेसे पहला चक्रभेदनमें समर्थ है ॥१७॥

स्वाभाविक संस्कार जीवोंको प्रथमसे ही नियमितरूपसे आगे बढ़ाता हुआ चौरासी लक्ष योनियोंमें होकर मनुष्ययोनिमें बाधाके विना पहुंचा देता है। यद्यपि मनुष्ययोनिमें अस्वाभाविक संस्कार उत्पन्न होनेसे वह जीव आवागमनचक्रमें फँस जाता है, परन्तु त्रिविध शुद्धिकी पूर्णता हो जानेसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषमें जब निष्काम भाव उदय हो जाता है और वह वासनारहित होकर जीवन्मुक्त

तत्सामर्थ्यमाद्यस्याऽबाधितत्वात् ॥१७॥

पदवीको प्राप्त करता है, तब उसमें पुनः स्वाभाविक संस्कारका उदय हो जाता है। यद्यपि उद्भिज्जादिकी चौरासी लक्षयोनियोंके जीवोंमें और जीवन्मुक्तमें रात तथा दिनकासा अन्तर है, तथापि जैववासनाराहित्यके विचारसे और प्राकृतिक नियमके अनुसरणके विचारसे दोनों अवस्थाएँ एक ही है। जिस प्रकार मनुष्यसे नीचेकी योनियोंके जीव केवल प्राकृतिक इङ्गितसे चालित होते हैं और अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्तिका प्रयोग कर ही नहीं सके हैं, उसी प्रकार जीवन्मुक्त अवस्थामें तत्त्वज्ञानी महापुरुषगण केवल प्राकृतिक प्रवाहके अनुसार ही शारीरिक और मानसिक चेष्टा करते हैं। वे वासनानाश तथा तत्त्वज्ञानके उदयके कारण स्वकीय इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिसे रहित हो जाते हैं। सुतरां इन दोनों अवस्थाओंमें ही एक अद्वितीय स्वाभाविक संस्कार ही कार्यकारी रहता है। इस विज्ञानको दूसरी तरहसे भी समझ सके हैं। अस्वाभाविक संस्कार जीवकी वासनासे उत्पन्न होनेके कारण उसमें अस्वाभाविक नवीनता और जटिलता रहती है, इसी कारण अस्वाभाविक संस्कारसे केवल बन्धन ही होता है, मुक्ति नहीं होती है। इसका उदाहरण यह है कि, एक सूतकी जटिलताको सुलझानेकी क्रिया न करके यदि केवल उलझानेकी क्रिया बार बार की जाय, तो वह सूत कदापि ग्रन्थिमुक्त नहीं हो सका है। स्वाभाविक संस्कारकी जो क्रिया है, वह सरल और एकरस है। इसको पहले ही कह चुके हैं कि, संस्कार कर्मका बीजरूप है, इस कारण कर्मको अङ्कुरोन्मुख करके अग्रसर कर देना संस्कारका ही कार्य्य है। अस्वाभाविक संस्कार कर्मकी गतिको जटिल करके चक्रमें फँसाता है और स्वाभाविक संस्कार उसको सरल कर देता है तथा चक्रकी ग्रन्थिको खोलकर जीवको आवागमनचक्रसे मुक्त कर देता है; इस कारण मुक्तिका हेतु एकमात्र स्वाभाविक संस्कार ही है ॥ १७ ॥

उसकी गतिका फल कहा जाता है:—

उसकी कलाओंसे अभ्युदय और निःश्रेयस होते हैं ॥१८॥

किस प्रकार साधारण रीतिसे स्वाभाविक संस्कारका क्रम-

तत्कलाभिरभ्युदयनिःश्रेयसे ॥ १८ ॥

विकाश होकर वह षोड़श कलाओंसे पूर्ण होकर पूर्ण फलप्रद होता है, इसका विस्तारित वर्णन पहले हो चुका है। धर्मकी शक्तिसे जीव उद्भिज्ज योनिकी अवस्थासे आरम्भ करके क्रमशः आगे बढ़ता हुआ परमहंस दशाको प्राप्त कर पुनः स्वस्वरूपमें पहुंच जाता है। धर्मकी शक्तिके द्वारा ही स्वाभाविक संस्कारके क्रमविकाशमें सहायता होती है। सुतरां धर्ममें जब अभ्युदय और निःश्रेयसकी शक्ति है तो, स्वाभाविक संस्कारकी कलाओंमें भी अभ्युदय और निःश्रेयसकी शक्ति होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? स्वाभाविक संस्कारका क्रमविकाश प्रथम अवस्थामें अभ्युदय और अन्तिम पूर्णावस्थामें निःश्रेयस प्रदान करता है ॥ १८ ॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं:—

ऊर्द्ध्वगामी संस्कारोंमें वे विद्यमान हैं ॥ १९ ॥

स्वाभाविक संस्कारके स्वरूपको भलीभांति स्पष्ट करनेके लिये महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जो संस्कार जीवसृष्टिका सहजात है, जो संस्कार प्रकृतिके साथ स्वाभाविकसम्बन्ध रखता है और जो संस्कार प्रकृतिको तरङ्गायित करके स्वस्वरूपकी ओर ले जाता है, वह ही स्वाभाविक संस्कार है। जड़ और चेतनात्मक विश्वमें जड़ा प्रकृति अपने त्रिगुणके स्वभावसे ही तरङ्गायित होती रहती है; उस अवस्थामें जो कर्मबीजरूपी संस्कार उस तरङ्गको नियमितरूपसे स्वस्वरूपतक पहुंचा देता है, वहही स्वाभाविक संस्कार है और जो संस्कार स्वस्वरूपकी ओर न पहुंचाकर प्रकृतिकी सीमाके भीतर ही प्रकृतिप्रवाहमें वार वार आवर्त उत्पन्न करता है, वह संस्कार अस्वाभाविक कहाता है। इस विज्ञानको अन्यतरहसे भी समझ सकते हैं कि, जो संस्कार नियमित रूपसे आत्माकी ओर ले जाता है, वह स्वाभाविक कहाता है और जो संस्कारसमूह वार वार जीवको इन्द्रियोंकी ओर खैंचकर लाते हैं, वे अस्वाभाविक कहाते हैं। वस्तुतः जो संस्कार धर्मकी गतिको सरल और प्रबल रखता है, वह स्वाभाविक संस्कार है। स्वाभाविक संस्कार प्राकृतिक तरङ्गमें स्वतः उत्पन्न होता है, वह जीवको

ऊर्द्ध्वगस्वाश्चला: ॥ १९ ॥

उत्पत्तिके साथही साथ उत्पन्न होता है और उसमें धर्मकी धारिका तथा अभ्युदय निःश्रेयस कारिणी शक्ति अविकृत रूपसे प्रकट रहती है । इस कारण मनुष्योंकी संस्कारराशियोंमेंसे जिन जिन संस्कारों में ये सब लक्षण विद्यमान हों, वे सब स्वाभाविक संस्कारकी स्वजातिके हैं, इसमें सन्देह नहीं है । इस विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, प्राकृतिक प्रवाहके विचारसे जिस प्रकार जीवोत्पत्ति स्वाभाविक है, उसी प्रकार जीवकी स्वरूपप्राप्ति भी स्वाभाविक है । इस कारण जीवको मुक्तिपदकी ओर ले जानेकी क्रियाका जो बीजरूप कारण है, वह ही स्वाभाविक संस्कार है । फलतः वे सब ऊर्द्धगामी संस्कारराशियोंमें विद्यमान है ॥ १९ ॥

प्रसङ्गतः वैदिक संस्कारोंकी सिद्धि कर रहे हैं:—

वे कलाएँ वैदिक संस्कारोंमें भी विद्यमान हैं ॥ २० ॥

स्वाभाविक संस्कारकी साधारण अवस्थाका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार असाधारण अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं । मनुष्ययोनिसे नीचेकी योनियोंमें केवल प्राकृतिक कर्म होता है। जीवके स्वकीय संकल्पसे कर्म नहीं होता है, इस कारण उन योनियोंमें स्वाभाविक संस्कारकी क्रिया अबाधित रहती है। अतः उन योनियोंमें स्वाभाविक संस्कारकी साधारण अवस्था रहती ही है। मनुष्ययोनिमें भी प्रकृतिके स्वाभाविक नियमके अनुसार चाहे वर्णाश्रम माननेवाली आर्य्यजातिमें अथवा वर्णाश्रम न माननेवाली अनार्य्यजातिमें स्वतः ही जो क्रमोन्नति होती रहती है, उन अवस्थाओंमें स्वाभाविक संस्कारकी साधारण अवस्था ही है, ऐसा मान सकते हैं, परन्तु वेद और वेदसम्मत शास्त्रोंके अनुसार जो विशेष विशेष संस्कारसमूह क्रमोन्नतिके सोपानरूपसे नियत किये गये हैं और जिनके द्वारा आर्य्यजाति सिद्धिलाभ करनेपर एक ही जन्ममें मुक्तिपद लाभ कर सकती है, उन शास्त्रीय संस्कारोंकी क्रियासे जो स्वाभाविक संस्कार सम्बन्ध रखता है, वह असाधारण कहा सकता है । वेद और वेदसम्मत शास्त्रकथित जो सोलह संस्कार हैं वे क्रमशः अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करते हैं; अर्थात् गर्भाधान

वैदिकमिद्धाश्च ॥ २० ॥

संस्कारसे अभ्युदय प्रारम्भ होकर संन्याससंस्कारमें निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है ॥ २० ॥

इसका कारण कह रहे हैंः—

वेदोंके नित्यज्ञानमय होनेसे ॥२१॥

वेदोंका नित्यज्ञानमय होना किस प्रकार निश्चय है, उसका पहले विस्तृत वर्णन हो चुका है। अतः नित्यज्ञानमय तथा भगवद् आज्ञा-रूपी वेद जो कुछ कहेंगे तो, वे नित्य सत्य पदार्थका ही निर्णय करेंगे। ऐसी वेदकी आज्ञाके द्वारा निश्चित जो क्रिया होगी, वह सिद्ध क्रिया ही होगी। दूसरी ओर जिस प्रकार बीजके साथ वृक्षका और वृक्षके साथ बीजका एकत्व और नित्य सम्बन्ध है, उसी प्रकार संस्कारके साथ कर्मका और कर्मके साथ संस्कारका एकत्व और नित्य सम्बन्ध है। जैसे भूमिके असम होनेपर भी आलवाल बनाकर जलकी धारा सरल और नियमित कर दी जाती है, ठीक उसी प्रकार नित्यज्ञानमय वेदोंके द्वारा निर्णीत षोड़श संस्कारोंके क्रियासमूहके द्वारा आलवाल बाँधकर स्वाभाविक संस्कारकी गति सरल और नियमित कर दी जाती है। वेद नित्यज्ञानमय होनेसे कर्मरहस्य और कर्मकी गतिके पूर्णज्ञाता हैं। इस कारण वैदिक संस्कारोंकी क्रियाप्रणाली ऐसी सर्वाङ्गपूर्ण और दैवीशक्तिसे गुम्फित है कि, उनके द्वारा जिस प्रकार मनुष्य सोपानोंपर यथाक्रम चढ़कर पृथिवीसे छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार वैदिक संस्कारोंकी सहायतासे वैदिक संस्कारके अधिकारी मनुष्य अबाधरूपसे अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करते हैं ॥२१॥

प्रथम वैदिक संस्कारका वर्णन किया जाता हैः—

गर्भाधान ॥२२॥

वैदिक संस्कारोंमेंसे प्रथम संस्कारका नाम आधान अर्थात् गर्भाधान है। इस मृत्युलोकमें मनुष्यका जन्मग्रहण स्त्री-पुरुषके सङ्गमके द्वारा मातृगर्भमें होता है। उसी मातृपितृसम्बन्धयुक्त क्रिया-कालके साथ आधान अर्थात् गर्भाधानसंस्कारका सम्बन्ध है। यह

नित्यज्ञानमयत्वाद्वेदानाम् ॥२१॥
आधानम् ॥२२॥

प्रथम संस्कार है, क्योंकि सन्तानकी उत्पत्तिकी यह पूर्वक्रिया है। गर्भाधान संस्कार समझनेके लिये पहले पीठविज्ञान समझनेकी आवश्यकता है। प्राणमयकोपमें आवर्त्त उत्पन्न होकर देवताओंके ठहरने योग्य जो स्थान उत्पन्न होता है, उसको पीठ कहते हैं। पीठका विज्ञान मध्यमीमांसा अर्थात् दैवीमीमांसा दर्शनमें विस्तृत वर्णित है। पीठके कई भेद तथा गर्भाधानके साथ पीठका सम्बन्ध स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे पाया जाता है:—

द्वितीयं सहजं पीठं दम्पतीसङ्गमे यथा ।
गर्भाधानस्वरूपस्य यौ तु पीठस्य दम्पती ॥
स्मरतः पितरः ! नित्यं मर्यादाञ्च पवित्रताम् ।
तथा दैव्यां जगत्यां हि श्रद्धालू यौ निरन्तरम् ॥
यौ स्वयोश्च सदा सत्त्वगुणलक्षणमीप्सितम् ।
प्राप्तं यत्नं प्रकुर्व्वाते सन्ततौ हि तयोर्ध्रुवम् ॥
उच्चाधिकार एतादृक् सम्प्रकाशेत येन सा ।
ज्ञातुमीष्टे प्रजा पुण्यां पूर्णधर्म्माधिकारिताम् ॥

दम्पतीसंगममें जो पीठ स्वतः उत्पन्न होता है, उसको सहज पीठ कहते हैं। जो दम्पती गर्भाधानरूपी पीठकी मर्य्यादा और पवित्रताको सदा स्मरण रखते हैं, जो दैव जगत्पर श्रद्धालु होते हैं और जो सदा अपनेमें सत्त्वगुणके लक्षण प्राप्त करनेका यत्न करते हैं, उनकी सन्ततिमें अवश्य ही ऐसे उच्च अधिकार प्रकट होते हैं कि, जिससे वह प्रजा धर्म्मके पवित्र पूर्ण अधिकारको जान सकी है।

गर्भाधान संस्कार सहधर्मिणीके प्रथम रजमें प्रारम्भ किया जाता है, क्योंकि उस समय मन्त्रपूत होकर वह स्त्री सुसन्तानके प्रसवकी उपयोगिनी बनती है, परन्तु प्रथम रजमें गर्भाधान संस्कार अनुष्ठानरूपसे किये जानेपर भी यथार्थरूपसे सन्तानोत्पत्तिके कालके विषयमें धर्माचार्योंका मतभेद है। इस विषयमें शरीरविज्ञानके आचार्य्य महर्षि सुश्रुतका मत यह है:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम् ।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥
जातो वा न चिरञ्जीवेन् जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रिय ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

सोलह वर्षसे कम अवस्थावाली स्त्रीमें यदि पचीस वर्षसे कम उमरका पुरुष गर्भाधान करे तो, वह गर्भ विपन्न हो जाता है और उत्पन्न होनेपर भी बालक चिरञ्जीव नहीं होता और जीता है तो, दुर्बलेन्द्रिय होता है, इसलिये अत्यन्त बाल्यकालमें गर्भाधान नहीं करना चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि, आर्य्यजातिका विवाह कामकी चरितार्थताके लिये नहीं है इस कारण आर्य्यजाति स्त्रीसङ्गको अति पवित्र और पीठ उत्पन्न करनेका हेतु समझती है। कालके विषयमें आचार्योंकी यहही सम्मति है कि, गर्भाधानका प्रथम अनुष्ठान सहधर्मिणीके प्रथम रजके समय होना उचित है, तदनन्तर स्त्री उपयुक्त वयस्का होनेपर उसी गर्भाधान संस्कारके सिद्धान्तोंको आश्रय करके धार्मिक सन्ततिके उत्पन्न करनेकी कामनासे स्त्रीसङ्ग करना विहित है और वह सङ्ग भी इस प्रथम संस्कारसे युक्त होकर किया जाता है। उसके लिये ज्योतिषशास्त्रकी सहायतासे शुभ अनुष्ठानोंकी आवश्यकता है। उस समय दम्पतीमेंसे दोनोंही धर्म और दैवी सहायताकी अपेक्षा करके योगयुक्त होकर इस प्रथम संस्कारको सिद्ध करते हैं। प्रत्येक सृष्टिक्रियामें ही दम्पतीको शास्त्रीय विज्ञानका अनुसरण करना अवश्य कर्त्तव्य है। यही प्रथम वैदिक संस्कारका रहस्य है ॥ २२ ॥

अब द्वितीय संस्कार कहा जाता है:—

पुंसवन ॥ २३ ॥

द्वितीय वैदिक संस्कारका नाम पुंसवन है। दम्पतीके सङ्गके समयमें अब सहज पीठ उत्पन्न होता है, उस समय शास्त्रोक्त गर्भाधान संस्कारसे दम्पतीका अन्तःकरण संस्कृत रहनेसे योग्य सन्तति

पुंसवनम् ॥ २३ ॥

के उपयोगी रजोवीर्य्ययुक्त उपादान नारीके गर्भमें एकत्रित होता है। उस समयसे पितृगण यथायोग्य स्थूलशरीर निर्माण करने में प्रवृत्त होते हैं। गर्भाधानके समयसे नित्य पितृगण जीवके वासोपयोगी गृहके सदृश स्थूल शरीरको यथायोग्यरूपसे बनाकर कई महीनेमें प्रस्तुत करते हैं। चतुर्थ मासमें स्थूलशरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग बनते हैं, इस कारण देवता और पितरोंकी सहायता प्राप्तिसे योग्य पुरुष शरीर मिले, इस संकल्पसे पुंसवन संस्कार किया जाता है। पुंसवन संस्कारमें मन्त्रशक्ति, सङ्कल्पशक्ति और दैवीकृपा प्राप्त करके माता और पिताकी गर्भस्थित सन्तति यदि पुत्र हो तो, उसको उत्तम देह प्राप्त कराते हैं और यदि प्रबल कर्मके वेगसे कन्या ही हो जाय तो, उसको भी उत्तम देह मिले, इसका प्रयत्न करते हैं। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपी इन तीनों दैवराज्योंके यथाक्रमरूपसे ऋषि, देवता और पितृ ये तीनों चालक हैं। इन तीनोंकी ही सहायता इस संस्कारमें प्राप्त हो सक्ती है। इसके मन्त्रोंमें ऐसा कहा है—

पुमानसौ मित्रावरुणौ पुमानसावश्विनावुभौ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे ॥

तुम्हारे उदरमें जो पुरुष वास करता है, उस पुरुषमें मित्रावरुण, अश्विनीकुमार तथा अग्नि और वायुके अंश हैं।

यह मृत्युलोक कर्मभूमि है, कर्म करके उत्तम अदृष्ट संग्रह करनेके लिये योग्य स्थूलशरीरकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। ऐसे स्थूलशरीरकी योग्यता प्राप्तिमें जो संस्कार सहायक हों, उसकी उपयोगिताके विषयमें सन्देह ही नहीं है ॥ २३ ॥

अब तीसरा संस्कार कहा जाता है:—

सीमन्तोन्नयन ॥२४॥

गर्भावस्थाका यह तृतीय और अन्तिम संस्कार है। गर्भस्थ सृष्टिकी पूर्णताके लिये यह संस्कार किया जाता है। पति अपनी स्त्रीकी प्रसन्नताके लिये स्वयं उसके सीमन्तका संस्कार करता है। इसीसे इस संस्कारका नाम सीमन्तोन्नयन है। इस संस्कारमें

सीमन्तोन्नयनम् ॥२४॥

किस प्रकारकी प्रार्थना देवताओंसे की जाती है, कैसा संकल्प किया जाता है और माताके चित्तमें कैसा संकल्प उत्पन्न किया जाता है, उसके दिग्दर्शनके अर्थ इस संस्कारके कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं—

मूर्द्धानं दिवाऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानर मृतऽआजातमग्निम्।
कविं सम्राजमतिथिं जननामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥
ओं अयमूर्जावतो वृक्ष ऊर्जीव फलिनी भव।
पर्णं वनस्पते नुत्वा नुत्वा सूयतां रयिः॥
ओं येनादितेः सीमानं नयति प्रजापतिर्महते सौभगाय।
तेनाहमस्यै सीमानं नयामि प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोमि॥
ओं यास्तेराके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमनाउपागहि सहस्रपोषं सुभगे रराणा॥

प्रथममन्त्रमें सुपुत्र उत्पन्न करनेके लिये पति देवताओंसे प्रार्थना करता है। द्वितीय मन्त्रमें पतिको आज्ञा दी गयी है कि, वह गर्भिणीके अञ्चलमें अथवा किसी अङ्गविशेषमें उदुम्बरफलके गुच्छेको बाँधे। तृतीय मन्त्रमें पति कह रहा है कि, जैसे प्रजापतिने अदितिका सीमन्तोन्नयन किया है, उसी प्रकार मैं भी इस गर्भिणी अपनी स्त्रीका सीमन्तोन्नयन करता हूँ। चौथे मन्त्रमें शल्लकी कण्टकसे पत्नीके सीमन्तको सुधारनेके लिये आज्ञा दी है और पति पुत्रके सौभाग्यशाली तथा दीर्घायु होनेके लिये प्रार्थना करता है।

गर्भाधानरूपी प्रथम संस्कारके द्वारा सहज पीठरूपी स्त्री-पुरुष-सङ्गमरूपिणी सृष्टि उत्पादक क्रियाकी अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत त्रिविध शुद्धि सम्पादन करके रजोवीर्य्ययुक्त गर्भकी शुद्धि की जाती है। योग्य स्थूलशरीर प्राप्तिके लिये दूसरा संस्कार है। इस तीसरे संस्कारमें पति अपने सङ्कल्पसे तथा वैदिक क्रियाकी सहायतासे पितृ और देवताओंको प्रसन्न करके स्त्रीकी प्रसन्नता और स्त्रीकी सङ्कल्पशुद्धिके द्वारा गर्भकी पूर्णता तथा गर्भस्थ शिशुके स्थूलशरीरकी शुद्धि कराकर जन्म लेनेवाले जीवके कल्याणके-लिये प्रयत्न करता है। यहही इस वैदिक संस्कारका गूढ़ रहस्य है॥ २४॥

अब चौथा संस्कार कहा जा रहा है:—

जातकर्म्म ॥ २५ ॥

इससे पहले स्थूलशरीरसे सम्बन्धयुक्त तीन संस्कारोंका वर्णन करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार अन्तःकरणकी उन्नतिके सम्बन्धके संस्कारोंमेंसे प्रथम संस्कारका वर्णन कर रहे हैं। इसके अनन्तर अन्तःकरणसम्बन्धी अन्यान्य संस्कारोंका वर्णन किया जायगा। गर्भमें जबतक जीव रहता है, उस समय तक उसको पूर्व जन्मोंकी स्मृति रहती है इस कारण उसके अन्तःकरणसम्बन्धी संस्कारोंका अवसर नहीं रहता है। उस समय केवल स्थूलशरीरको उपयोगी बनानेके लिये दैवीसहायता लेनी पड़ती है। गर्भसे निकलते समय गर्भद्वारके प्रबल निष्पेषणसे तथा मातृशरीरसे पृथक् होकर पृथिवीपर भूमिष्ठ होनेके कारण वह जीव पूर्व्व स्मृतिको भूल जाता है। इस कारण इस समयसे उसके अन्तःकरणको संस्कृत करनेकी आवश्यकता होती है। इस मृत्युलोकमें भूमिष्ठ होते ही उसके अन्तःकरणमें मानसिकबलका सञ्चार प्रारम्भ हो सके, इसके निमित्त जातकर्म संस्कार किया जाता है इस संस्कारके सम्बन्धमें कुछ मन्त्र नीचे दिये जाते हैं:—

> मेधान्ते मित्रावरुणौ मेधामग्निर्दधातु ते ।
> मेधां ते अश्विनौ देवा वा धत्तां पुष्करस्रजौ ॥
> ओं सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
> सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥

इन मन्त्रोंका तात्पर्य यह है कि, जिस समय पिता बालककी जिह्वाको सर्पी (घी) से मार्जित करता है, उसी समय इन मन्त्रोंसे बालककी बुद्धिकी उन्नतिके लिये वह देवताओंसे प्रार्थना करता है।

इस मृत्युलोकमें भूमिष्ठ होनेके साथ ही यह संस्कार किया जाता है, इस कारण इसको जातकर्म कहते हैं। भूमिष्ठ होनेसे पूर्व जीव स्थूलशरीरके साथ पूर्ण सम्बन्धयुक्त नहीं होता है। पूर्वजन्मकी स्मृति रहनेके कारण वह जीव गर्भवास और स्थूलशरीरको कारागारके समान समझता है, परन्तु भूमिष्ठ होते ही वह

जातकर्म्म ॥ २५ ॥

पूर्व्व स्मृतिको भूलकर अपने स्थूलशरीरके साथ एक सम्बन्ध युक्त हो जाता है। सुतरां ऐसे समयमें अन्तःकरणका बल ही उस जीवको धर्ममार्ग प्रदर्शन तथा आध्यात्मिक उन्नति करानेमें समर्थ हो सकता है। इस कारण इस संस्कारकी विशेष उपयोगिता है ॥२५॥

अब पांचवाँ संस्कार कहा जाता है:—

नामकरण ॥ २६ ॥

अन्तःकरणमें बलसञ्चारके लिये यह पञ्चम वैदिक संस्कार प्रयुक्त होता है। यह संसार नामरूपात्मक है, इस कारण नामके अवलम्बनके साथ जीवका बहुत कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः बहुत विचारकर नाम रखना और नामकरण संस्कारके साथ उस जीवके अन्तःकरणमें विशेष अध्यात्म और अधिदैवबलका प्रयोग करना इस संस्कारका तात्पर्य्य है। मनुष्यमें आध्यात्मिक और आधिदैविकबलसञ्चारके लिये तथा आन्तरिक संस्कारशुद्धिके लिये उस मनुष्यका नाम बहुत ही सहायक होता है, इस कारण सन्न्यासाश्रममें भी नामान्तर किया जाता है। ब्रह्माण्डकी समष्टिसत्तासे मनुष्यकी व्यष्टिसत्ता सम्पादनके लिये नाम बड़ा भारी अवलम्बन है, दूसरी ओर नामका अर्थ और नामके भावका प्रभाव मनुष्यपर चिरस्थायीरूपसे पड़ा करता है। जिस प्रकार जिस गुण और जिस शक्तिसम्वलित जीवका नाम रक्खा जायगा, उसकी संस्कारशुद्धिके लिये और उसके अन्तःकरणपर प्रभाव उत्पन्न करनेके लिये तथा उसमें आध्यात्मिक, आधिदैविक सहायता प्राप्तिके लिये वह नाम चिरस्थायीरूपसे सहायक रहता है। इसी कारण नामकरण संस्कार एक बहुत आवश्यकीय संस्कार है। वेदमतानुयायी आर्य्य-नरनारियोंका नामकरण संस्कार बहुत हितकर समझा गया है। उस संस्कारके होते समय ऋषि, देवता और पितरोंकी सहायता लेकर ज्योतिषशास्त्रानुयायी तथा धर्मशास्त्रके मतानुयायी होकर देश, काल, पात्रका विचारकर उस व्यक्तिके ऐहिलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणको सम्मुख रखकर शुद्धभावयुक्त और शुद्ध अर्थयुक्त नाम चुने जाते हैं अतः उसके अनुसार यह संस्कार किया जाता है ॥ २६ ॥

नामकरणम् ॥ २६ ॥

अब छठवाँ संस्कार कहा जाता है:—

अन्नप्राशन ॥ २७ ॥

स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर दोनोंकी उन्नति तथा पुष्टिके लिये अन्न प्रधान अवलम्बन है। अन्नसे अन्नमयकोष पुष्ट और सुरक्षित होता है, अन्नसे प्राण सञ्चालित होता है और अन्नसे मनकी प्रकृति बनती है। यह विज्ञान दर्शनशास्त्रके द्वारा स्वतः सिद्ध है। इस कारण जीवको मातृदुग्ध छुड़ाकर प्रथम अन्नग्रहण कराते समय यह संस्कार किया जाता है। इस वैदिक संस्कारके होते समय दैवी सहायता लेकर सन्ततिके अन्तःकरणको भविष्यत्‌में यथा-योग्य बनानेके लिये और अन्नके सम्बन्धसे अभिमन्त्रित शुद्ध संस्कार बालकके चित्तमें अङ्कित करके दैवी सहायतासे उसके अन्तःकरणमें आध्यात्मिक बल पहुँचानेके लिये यह संस्कार किया जाता है। निष्क्रमण आदि संस्कार इसके अन्तर्गत हैं ॥ २७ ॥

अब सातवाँ संस्कार कहा जाता है:—

चौलकरण ॥ २८ ॥

वस्तुतः आर्य्यजातिगत जीवनके लिये यह सप्तम संस्कार प्रधान है। आर्य्यजातिके जातिगत जीवनके विचारसे जितने लक्षण माने गये हैं, उसमें अध्यात्मलक्ष्यकी स्थिति प्रधान मानी गयी है। अध्यात्मलक्ष्यके बीजारोपणके लिये यह संस्कार दैवी सहायतासे किया जाता है। गर्भस्थित केशमुण्डनके अनन्तर शिखाकी स्थापना इसका प्रधान लक्षण है। सहस्र दलपर ब्रह्मको लक्ष्य करानेके अर्थ शिखाकी स्थापना की जाती है। इस संस्कारके अनन्तर बालकमें सब समय ऊर्द्ध्व अध्यात्म लक्ष्य रहे, इसके लिये संस्कारसम्बन्धसे बीजारोपण किया जाता है। यही शिखाका आध्यात्मिक रहस्य है। योगशास्त्रके अनुसार मूलाधारमें आधार-पद्मपर-ब्रह्म-प्रकृति कुलकुण्डलिनीका स्थान और सप्तम चक्र सहस्र-दलमें ब्रह्मका स्थान माने गये हैं। अतः मनुष्य अपनी संस्कार शुद्धिके द्वारा जितना अपने अन्तःकरणको बलीयान् करके उसको

अन्नप्राशनम् ॥ २७ ॥
चौलम् ॥२८॥

सहस्रदलकी ओर युक्त रक्खेगा, उतनी ही उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। शिखास्थापन, शिखामार्जन और नित्यक्रियामें शिखाको कार्य्यमें लानेसे इस ऊर्द्धगामी संस्कारकी पुष्टि होती है, यह स्वतः सिद्ध है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि, आर्य्यत्वकी सुरक्षा और पुष्टिके लिये यह संस्कार बहुत ही उपयोगी है॥ २८॥

अब आठवाँ संस्कार कहा जाता हैः—

उपनयन ॥२९॥

निवृत्तिमार्ग-आध्यात्मिक उन्नतिका द्वाररूप और प्रवृत्तिमार्गका यह अन्तिम संस्कार है। इसके अनन्तरके जो आठ संस्कार हैं, वे निवृत्तिमार्गके संस्कार कहाते हैं, जो अगले सूत्रोंमें कहे गये हैं। केवल अन्तिम उपनयन संस्कार चारों वर्णोंमेंसे तीन वर्णोंका हुआ करता है। कामलक्ष्य प्रधान शूद्रवर्णके लिये इस संस्कारकी आवश्यकता नहीं समझी गई है। कामके साथ इन्द्रियोंका साक्षात् सम्बन्ध है, परन्तु अर्थ अधोगामी होनेसे कामका सहायक होता है और वह ऊर्द्धगामी होनेसे धर्म्मका सहायक हो सक्ता है, क्योंकि अर्थ दोनोंके मध्यस्थानीय है। सुतरां अर्थभी रूपान्तरसे धर्म और मोक्षका सहायक होनेके कारण यह द्विजजनोचित संस्कार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये ही विहित है। इस संस्कारके कारण ही ये तीनों वर्ण द्विज कहाते हैं, क्योंकि इस संस्कारके द्वारा आधिभौतिक अधोगामी लक्ष्यका द्वार रुद्ध होकर ऊर्द्ध्वगामी आध्यात्मिक लक्ष्यका द्वार खुल जाता है, इस कारण जीवका यह द्वितीय जन्म समझा जाता है, वह जीव उस समयसे द्विज कहाता है। इस संस्कारसे शुद्ध द्विज ब्रह्ममन्त्ररूपिणी गायत्रीका अधिकारी बन जाता है और इसी समयसे वह वेदाध्ययनके योग्य पात्र बनता है। जिस प्रकार चौलकरण संस्कारमें वैदिक संस्कारसे संस्कृत मनुष्यको शिखाकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार इस संस्कारसे संस्कृत मनुष्यको ब्रह्मोपासनाका निदर्शनरूप यज्ञोपवीतकी प्राप्ति होती है। चौलसंस्कारमें दैवी सहायतासे अध्यात्मलक्ष्यकी उपयोगिता मिलती है और इस संस्कारके द्वारा उस

उपनयनम् ॥२९॥

लक्ष्यकी स्थितिके लिये उपासनाका यथार्थ अधिकार प्राप्त होता है ॥२६॥

अब नवमां संस्कार कहा जाता है:—

ब्रह्मव्रत ॥ ३० ॥

मन, बुद्धि और चित्त अहङ्काररूपी अन्तःकरणचतुष्टयमेंसे मन और चित्त जड़त्वप्रधान तथा बुद्धि और अहङ्कार चेतनत्वप्रधान अंश हैं। अन्तःकरण ही जीवके बन्धन और मुक्तिका कारण है। जड़त्वप्रधान अन्तःकरण बन्धनका कारण होता है और चेतनत्व-प्रधान अन्तःकरण मुक्तिका कारण होता है।

अबतक जो आठ संस्कार कहे गये थे, उनसे अन्तःकरणके जड़प्रधान अंशका अधिक सम्बन्ध था, अब जो संस्कार कहे जारहे हैं, उनसे अन्तःकरणके साथ चित्प्रधान अंशका अधिक सम्बन्ध है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, पहले जो आठ संस्कार हैं, उनके द्वारा दैवीसहायता प्राप्त होकर मनुष्यके मनमें बलका सञ्चार होता है और पीछेके जो आठ संस्कार हैं, उनके द्वारा मनुष्यकी बुद्धि बलवती होती है। यह ब्रह्मव्रत संस्कार प्रथम आश्रमका मूलभूत है। आचार्य्यके निकट दीक्षित होकर द्विजत्वप्राप्त बालक प्रतिज्ञाबद्ध होकर इस व्रतको ग्रहण करता है। गुरुसेवा, वीर्य्यधारण, तपस्या और मातृ-पूजा इस प्रकारसे चतुर्व्यूहके द्वारा यह ब्रह्मव्रतसंस्कार सुदृढ़ है। इस संसारमें चाहे लौकिक ज्ञान हो, चाहे पारमार्थिक ज्ञान हो, गुरुसेवाके विना किसीकी भी सिद्धि नहीं होती है। आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंका वर्णन पहले आचुका है। ये ही दोनों शक्तियां जीवके अन्तःकरणमें भी सदा कार्य्यकारिणी रहती हैं। विकर्षणशक्तिका केन्द्र इन्द्रियसमूह और आकर्षण शक्तिका केन्द्र श्रीगुरुदेव हैं, क्योंकि उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति सदा जीवको नीचेको ओर गिराती रहती है, चाहे ज्ञानाधार श्रीजगद्गुरु ही अन्तः-करणमें प्रकाशित होकर जीवकी ऊर्द्ध्वगति करनेमें सहायक होते हैं। इसी कारण लघुशक्तिविशिष्ट शिष्यको गुरुशक्तिविशिष्ट

ब्रह्मव्रतम् ॥ ३० ॥

ज्ञानप्रदाता जगद्गुरुके प्रतिनिधिभूत श्रीगुरुदेव ऊपरकी ओर आकर्षित करते हैं। यही कारण है कि, विना गुरुकी सहायताके किसी प्रकारकी ज्ञानोन्नति नहीं हो सकती है। लौकिक ज्ञानप्राप्तिमें भी उपदेशकी आवश्यकता होती है। अतीन्द्रिय अलौकिकज्ञानकी प्राप्ति तो सर्वथा गुरुपर ही निर्भर करती है। ऐसे गुरुदेवकी सेवा करनेकी योग्यताप्राप्ति ही इस ब्रह्मव्रतका व्यूह है। मन, वायु और वीर्य्य प्रकारान्तरसे ये तीनों एक ही पदार्थ हैं। इस कारण इन तीनोंमेंसे किसी एकको वशीभूत करनेसे वे तीनों स्वतः ही वशीभूत हो जाते हैं, यह विज्ञान योगदर्शनके द्वारा सुसिद्ध है। इन तीनोंमेंसे वीर्य्यधारण सहल तथा आधिभौतिक सम्बन्धयुक्त होनेके कारण इसकी महिमा सर्वोपरि है। मनपर आधिपत्य किये विना बुद्धिका विकाश असम्भव है और बुद्धिकी दृढ़ताके विना बुद्धिसे अतीत परमपुरुषका दर्शन जीवको हो नहीं सकता है, इस कारण ऊर्द्ध्वरेतस्सिद्धिके द्वारा मनपर आधिपत्य करके बुद्धितत्त्वके विकाशके द्वारा ब्रह्मप्राप्तिका कारण होनेसे यह संस्कार ब्रह्मव्रतनामसे अभिहित होता है, यह ही द्वितीय व्यूहका विज्ञान है। केवल गुरुशुश्रूषामूलक आचारसे ब्रह्मचर्य्याश्रम धर्मपूर्ण है। ब्रह्मचर्य्याश्रमके आचारोंपर मनन करनेसे ही इस व्रतका तपस्यामूलक होनेका प्रमाण स्वतः ही मिलता है। यह ही तृतीय व्यूह है। ब्रह्मचर्य्याश्रमके सदाचारोंका पालन तभी हो सकता है, जब ब्रह्मचारी पृथिवीमें यावत् स्त्रियोंको मातृवत् समझ सके। प्रथम तो पृथिवीकी समस्त स्त्रियोंको मातृवत् न समझनेसे ब्रह्मचर्य्यव्रतका पालन नहीं हो सकता है। द्वितीयतः भिक्षा आदिके आचार जो इस आश्रममें रक्खे गये हैं, वे मातृपूजाधर्मकी सिद्धिके लिये ही रक्खे गये हैं। यहही चतुर्व्यूहका स्वरूप है। इस प्रकारसे चतुर्व्यूहसे युक्त धर्म्मोंके पालनद्वारा ब्रह्मव्रतका अधिकारी आश्रमधर्मकी भित्तिको दृढ़ करता है ॥ ३० ॥

अब दशवां संस्कार कहा जाता है—

वेदव्रत ॥ ३१ ॥

ब्रह्मचर्य्याश्रमरूपी प्रथम आश्रममें प्रवेश करते ही इस

वेदव्रतम् ॥ ३१ ॥

संस्कारका प्रारम्भ होता है । ब्रह्मचारी गायत्रीकी उपासना प्राप्त करके आचार्य्यसेवामें नियुक्त होकर ज्ञानप्राप्तिके निमित्त इस संस्कारको प्राप्त करता है । इस संस्कारसे संस्कृत होकर द्विज वेद और वेदसम्मत शास्त्रसमूहको आचार्य्यसे अध्ययन करके कृतकृत्य होता है । इस संस्कारकी सहायतासे गुरुकृपाप्राप्त करके द्विज सुबुद्धिसम्पन्न और मेधावी होकर पवित्र ज्ञानार्जनमें प्रवृत्त होता है । कुतर्करूपी मुषकको वाहन बनाकर जिस प्रकार बुद्धिके अधिष्ठाता गणपति विराजमान रहते हैं, इसी उदाहरणसे समझना उचित है कि, वेदव्रतसंस्कारसे संस्कृत कुतर्क जल्प वितण्डासे रहित होकर द्विज वेद और शास्त्रनियोजित ज्ञानमार्गमें चलकर अन्तमें ऋतम्भरा प्राप्तिका अधिकारी बन सकता है ॥ ३१ ॥

अब ग्यारहवाँ संस्कार कहा जाता है—

समावर्त्तन ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणसन्तानके लिये एक बड़ाभारी सन्धिका समय समावर्त्तनसंस्कार है। इसका कारण यह है कि, इस अवस्थामें ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण स्त्रीग्रहणपूर्वक गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके सृष्टिकार्य्यमें प्रवृत्त हो सकता है अथवा सीधा सन्न्यासाश्रममें चला जा सकता है। इस कारण इस सन्धिके सम्बन्धसे इस संस्कारकी यह विशेषता है। यदि द्विज गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहे तो, उनके लिये एक प्रकारकी संस्कारशैली अवलम्बन की जाती है और यदि ऐसा न चाहे तो, दूसरी प्रकारकी संस्कारशैली अवलम्बन की जाती है । प्रथम अवस्थामें पिताका प्राधान्य और दूसरीमें गुरुका प्राधान्य रहता है । पहली अवस्था कर्मपक्षपातिनी है और दूसरी अवस्था वैराग्य और ज्ञानप्रधाना है ॥ ३२ ॥

बारहवाँ संस्कार कहा जाता है:—

विवाह ॥ ३३ ॥

इस उद्वाहसंस्कारके अनन्तर आर्य्यगण गृहस्थाश्रमरूपी द्वितीय आश्रममें प्रवेश करनेके अधिकारी होते हैं । दैवी सहायता

समावर्त्तनम् ॥ ३२ ॥
उद्वाहः ॥ ३३ ॥

लेकर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार प्रतिज्ञावद्ध होते समय सहधर्मिणी-रूपसे स्त्रीका ग्रहण करके वह गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है। यद्यपि वाह्यदृष्टिसे आर्य्यसन्तानका यह स्त्रीग्रहणप्रवृत्तिका कार्य्य समझा जा सक्ता है, परन्तु वस्तुतः वर्णाश्रमधर्मविज्ञानके अनुसार आर्य्य-सन्तानका स्त्रीग्रहण यथार्थमें निवृत्तिमूलक ही है। वर्णाश्रमधर्म-विज्ञानके अनुसार पुरुष नारीदुर्गके द्वारा सुरक्षित होकर उद्दाम इन्द्रिय प्रवृत्तिपर अपना आधिपत्य करता हुआ शास्त्रोक्त प्रवृत्तिकी सहायता लेकर निवृत्तिमार्गमें अग्रसर होता है। आर्य्यजातिकी प्रवृत्तिकी शृङ्खलापर जितना विचार किया जायगा, उतना ही उस वैधी शृङ्खलाको निवृत्तिका हेतुरूपसे पाया जायगा। यदि यह शङ्का जिज्ञासुओंके चित्तमें उत्पन्न हो कि, सृष्टि-क्रिया तो प्रवृत्ति-मूलक है? ऐसी शङ्काओंके समाधानमें कहा जा सक्ता है कि, वर्णा-श्रमधर्मी व्यक्तिके लिये सृष्टिक्रिया काम और अर्थमूलक नहीं होती है। उनकी सृष्टिक्रिया धर्म और मोक्षमूलक होती है। योग्य प्रजा-तन्तुकी रक्षाके द्वारा वे पितृऋण, देवऋण, ऋषिऋण तथा इस लोकमें भूतऋण और नृऋणसे मुक्त होकर अपने निवृत्तिमार्गको परिष्कृत करते हैं। दैवसूक्ष्मलोकके तीन चालक हैं, यथा—ऋषि, देवता और पितृ। उनके नियमित सम्वर्द्धनके लिये इस मृत्यु-लोकमें योग्य प्रजाकी आवश्यकता है और दूसरी ओर भूतोंसे तथा मनुष्यमात्रसे इस लोकमें जो उपकार प्राप्त होता है, उस उपकारसे उऋण होनेकी भी आवश्यकता है। सुतरां इन पाँच प्रकारके ऋणोंसे मुक्तिप्राप्त करनेके लिये धार्मिक प्रजातन्तुकी रक्षारूप जगद्धितकर कार्य्य कदापि प्रवृत्तिमूलक नहीं हो सकता है। इस विषयमें जिज्ञासुके हृदयमें यह भी शङ्का हो सक्ती है कि, यदि प्रजा-तन्तुरूपिणी सृष्टिक्रिया धर्मानुकूल है तो ब्रह्मचारी गृहस्थ न होकर एकाएक सन्न्यासाश्रममें चले जाते हैं, वे क्या अधर्म नहीं करते हैं? इस श्रेणीकी शङ्काओंका समाधान यह है कि, जबतक इन पाँच प्रकारके ऋणोंमें कर्त्तव्यबुद्धि है, तबतक अवश्य ही समावर्त्तन-संस्कारके अनन्तर गृहस्थ होना उचित है। ऐसी दशामें उद्वाह-संस्कार नहीं करनेसे अवश्य अधर्म होता है, परन्तु यदि पूर्व्व-जन्मार्जित सुकृतिके वश उच्चाधिकारी व्यक्ति विषयवैराग्य तथा आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है तो उसमें वासनाक्षय हो जानेसे वह

पापका भागी नहीं होता है और एकबार ही मुक्तिभूमिमें अग्रसर हो जाता है ॥ ३३ ॥

अब तेरहवाँ संस्कार कहा जाता हैः—

अग्न्याधान ॥३४॥

कर्मकाण्डकी सहायतासे दैवजगत्‌के साथ विशेषरूपसे सम्बन्ध करना ही इस संस्कारका मुख्य उद्देश्य है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, कर्मकाण्डके द्वारा मलका नाश करके मनुष्य मुक्तिभूमिकी ओर अग्रसर होता है। यही कर्मकाण्डकी प्रधान और सर्वोत्तम सिद्धि है; विशेषतः मृत्युलोकमें स्थूलशरीरका प्राधान्य होनेके कारण इस सिद्धिकी उपयोगिता विशेष है। इस संस्कारके द्वारा प्रतिदिन दैवीसहायता प्राप्त होकर इस सिद्धिके लाभ करनेमें सहायता मिलती है और गृहस्थाश्रमी नाना प्रकारकी प्रवृत्तिमें फँसा रहनेपर भी मल दोषसे रहित होकर अपने निवृत्ति-रूपी ऊर्द्ध्वमार्गको सरल रख सकता है ॥ ३४ ॥

अब चौदहवाँ संस्कार कहा जाता हैः—

दीक्षा ॥३५॥

उपासनाकाण्डकी सहायतासे दैवजगत्‌की विशेष अनुकूलता प्राप्त करके मुक्तिमार्गका पथ सरल करना ही इस संस्कारका मुख्य उद्देश्य है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, उपासनाकाण्डके प्रधान अङ्गरूप योग और भक्तिसम्बन्धी साधनोंके द्वारा साधक सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी विक्षेपोंका नाश करके मुक्तिभूमिमें अग्रसर होता है। मल और विक्षेप दूर होते ही आत्माका आवरण स्वतः ही ज्ञानके प्रकाशसे नाश हो जाता है। सुतरां मुक्तिभूमिमें अग्र-सर होनेके लिये यह विक्षेपनाशक संस्कार परमोपयोगी है। इस चतुर्दश संस्कारके द्वारा साधक गुरुके साथ साक्षात् रूपसे सम्बन्ध-युक्त होता है। वेदाध्यापक आचार्य्य और दीक्षादाता गुरु कहाते हैं। वेदव्रतसंस्कारमें आचार्य्यसम्बन्ध और इस संस्कारमें गुरु-सम्बन्ध स्थापित होते हैं। दीक्षा संस्कारके अनन्तर साधक

अग्न्याधानम् ॥ ३४ ॥
दीक्षा ॥३५॥

इष्टोपासनाका अधिकार प्राप्त करके दैवजगत्‌की सहायतासे अन्तः-करणका विक्षेप नाश करता हुआ मुक्तिमार्गमें अग्रसर होता है। इस संस्कारमें सिद्धि लाभ किये विना साधक निवृत्ति पोषक वानप्रस्थाश्रमका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता है। अतः गृहस्थाश्रमका यह अन्तिम संस्कार है। गृहस्थाश्रमके अन्य जितने संस्कार हैं, वे सभी अग्न्याधान और दीक्षाके मध्यवर्ती अन्तरङ्गरूपसे समझे जा सकते हैं ॥३५॥

अब पंद्रहवाँ संस्कार कहा जाता हैः—

महाव्रत ॥३६॥

इस संस्कारके द्वारा तृतीय वानप्रस्थाश्रमका प्रारम्भ होता है। यद्यपि चारों आश्रम निवृत्तिमार्गके ही हैं, परन्तु प्रथम दो आश्रम प्रवृत्तिको संयमित करके निवृत्तिका मार्ग सरल करते हैं। इस संस्कारसे संस्कृत होकर जब उच्चाधिकारी वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश करता है, तब निवृत्तिमार्गकी भित्ति दृढ़ हो जाती है। वस्तुतः वानप्रस्थाश्रमकी यावद्दीक्षा और साधनोंका सम्बन्ध इस संस्कारसे है ॥३६॥

अब सोलहवाँ अर्थात् अन्तिम संस्कार कहा जाता हैः—

संन्यास ॥३७॥

संन्यास आश्रमकी सिद्धिके लिये जो संन्यास संस्कार होता है, वही अन्तिम संस्कार है। इसके अनेक भेद हैं, उनमेंसे चार यथाक्रम मुख्य हैं, यथा-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस जिनका विस्तारित वर्णन पहले आचुका है। बुद्धितत्त्वकी उन्नतिके लिये जो साधन ब्रह्मचर्य्याश्रममें प्रारम्भ होता है, संस्कारशुद्धिकी सहायतासे उसकी पूर्णता इस संस्कारमें होती है और निवृत्तिका पूर्ण स्वरूप इस संस्कारसे विकसित हो जाता है। जिस प्रकार सभी संस्कारयज्ञ, द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, प्रतिज्ञा, आचार, महत्कृपा और दैवीअनुकम्पा, इस प्रकार सात अङ्गोंमें विभक्त हैं उसी प्रकार यह अन्तिम संस्कार भी है। प्रत्येक संस्कारके यज्ञको

महाव्रतम् ॥३६॥
सन्न्यासः ॥३७॥

करते समय पूर्वकथित तीन शुद्धियोंकी ऐकान्तिकी आवश्यकता होती ही है। प्रथम सात संस्कारोंमें संकल्पमन्त्र ही प्रतिज्ञारूप होता है। उपनयनसे लेकर संन्यासपर्य्यन्त आचार्य्य अथवा गुरुके निकट प्रतिज्ञापूर्व्वक व्रतग्रहणका महत्त्व बहुत कुछ रक्खा गया है। आचार भी ज्ञानवृद्धिके साथ ही साथ दृढ़ किये गये हैं। विशेषतः चारों आश्रमोंके पृथक् पृथक् आचारोंकी दृढ़ता वेद और वेदसम्मत सब शास्त्रोंमें पाई जाती है। महत्कृपाका सम्बन्ध सबमें ही यथेष्टरूपसे पाया जाता है। प्रथम संस्कारोंमें पुरोहितकी कृपा, दूसरी श्रेणीके संस्कारोंमें आचार्य्यकी कृपा तथा अन्तिम तीन संस्कारोंमें गुरु-कृपाका होना स्वतः सिद्ध है और दैवानुकूल्य तो सब संस्कारोंका मूल ही है। इस अन्तिम संस्कारकी सिद्धिसे ब्राह्मणगण निश्चय ही कैवल्यभूमिमें पहुंच जाते हैं ॥३७॥

प्रसङ्गसे शङ्काका समाधान किया जाता है:—

अन्य संस्कारोंका इन्हींमें अन्तर्भाव है ॥३८॥

जब देखनेमें आता है कि, इन सोलह संस्कारोंके अतिरिक्त वैदिक तथा वेदसम्मत शास्त्रोक्त और भी अनेक संस्कारोंका वर्णन पाया जाता है तो, जिज्ञासुओंके हृदयकी शङ्काके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव महर्षि सूत्रकारने किया है। इन सोलह संस्कारोंके अतिरिक्त और जो संस्कार वेद तथा वेदसम्मत शास्त्रोंमें हैं, वे प्रकारान्तरसे इन्हींके अन्तर्भावरूपसे हैं। उदाहरणकी रीतिपर समझा जा सकता है कि, निष्क्रमणसंस्कार नामकरणके अन्तर्गत है, क्योंकि निष्क्रमणका फल नामकरण स्वतः ही उत्पन्न करता है। केशान्तसंस्कार समावर्त्तनसंस्कारके अन्तर्गत है, ऐसा स्वल्प-विचारसे जाना जाता है, क्योंकि यह केशान्तसंस्कार गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये किया जाता है। पञ्चमहायज्ञसंस्कार, अष्टकाश्राद्ध, पार्वणश्राद्ध, श्रावणीकर्म आदिका उद्वाहसंस्कारमें अन्तर्भाव है, क्योंकि गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते ही इन संस्कारोंका प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार दर्शपौर्णमासयाग, चातुर्मास्ययाग, अग्निष्टोम, सौत्रामणीयाग आदि संस्कार अग्न्याधानसंस्कारके अन्तर्गत हैं, क्योंकि अग्न्याधान इन सब संस्कारोंका मूल है। उसी

एष्वन्तर्भाव इतरेषाम् ॥३८॥

शैलीपर महाभिषेक, तीर्थसंन्यास आदि संस्कार महाव्रत संस्कारके अन्तर्गत हैं और कुटीचक, बहूदक आदि संस्कार संन्यास संस्कारके अन्तर्गत माने जाते हैं। इसी रीतिपर वेद, स्मृति, पुराण, तन्त्रादिके जितने संस्कार हैं, वे सब इन्हीं सोलह संस्कारोंके ही अन्तर्गत हैं ॥३८॥

प्रवृत्ति और निवृत्तिसम्बन्धसे उनके भेद कहे जाते हैं:—

पहले संस्कारसमूह प्रवृत्तिरोधक और पिछले निवृत्ति-पोषक हैं ॥ ३९ ॥

इन सोलह संस्कारोंमेंसे प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक हैं और अन्तके आठ संस्कार निवृत्तिपोषक हैं। यह पहले ही कहा गया है कि, प्रथम आठ संस्कारोंका प्रभाव प्रधानतः मनपर होता है और अन्तके आठ संस्कारयज्ञोंका प्रभाव बुद्धिपर होता है। मनका सम्बन्ध साधारणतः इन्द्रियोंसे और बुद्धिका सम्बन्ध साधारणतः आत्मासे रहनेके कारण मनका कार्य्य प्रायः आसक्तिमूलक तथा बुद्धिका कार्य्य प्रायः भावमूलक होता है। सुतरां मन स्वभावतः प्रवृत्तिपर और बुद्धि निवृत्तिसहायक है। मन और चित्तके सङ्गमसे आसक्तिका जन्म होनेके कारण संस्कृत मन ही प्रवृत्तिरोध करनेमें समर्थ होता है। उसी प्रकार बुद्धि तथा अहङ्कारके सङ्गमसे भावकी उत्पत्ति होनेके कारण और सद्भाव ही निवृत्तिदाता होनेसे संस्कृतबुद्धिके द्वारा निवृत्तिकी उत्पत्ति होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? यह पहले ही सिद्ध किया गया है कि, आधानसंस्कारसे लेकर उपनयन तक आठ संस्कारोंमें दैवीकृपासे मनका बलाधान होता है और अन्तिम आठ संस्कारोंमें दैवीकृपासे बुद्धिका बलाधान होता है इस कारण यह सिद्ध हुआ कि, प्रथम आठ संस्कार प्रवृत्तिरोधक और अन्तिम आठ संस्कार निवृत्तिपोषक हैं ॥ ३९ ॥

इन संस्कार यज्ञोंका विशेषफल कहा जाता है:—

उससे दैवीशक्तिकी प्रतिष्ठा होती है ॥ ४० ॥

मनुष्य जो आवागमनचक्रमें क्रमोन्नति नहीं कर सकता है, उसका

पूर्व्वे प्रवृत्तिरोधका निवृत्तिपोषकाः परे ॥ ३९ ॥
ततो दैवाधिष्ठानम् ॥ ४० ॥

कारण देवताओंकी सहायता ठीक नहीं मिलना है और कमोन्नतिमें देवताओंकी कृपा कारण है। कर्मके फलदाता तथा सञ्चालक देवतागण हैं, इस कारण ऐसा स्वतः सिद्ध है। संस्कार शुद्धिसे क्रियाशुद्धि होती है और क्रियाशुद्धिके द्वारा पुण्यसञ्चय होनेसे देवताओंकी कृपा प्राप्त होती है। किस प्रकारसे इन संस्कार-यज्ञोंके द्वारा दैवजगत्के साथ सम्बन्ध स्थापन होता है और कैसे दैवी सहायता ली जाती है, इसका विस्तारित वर्णन पहले किया गया है ॥ ४० ॥

नारीसम्बन्धसे विशेषता कही जाती है:—

नारियोंमें उद्वाहकी विशेषता है ॥ ४१ ॥

आर्य्यपुरुषोंके लिये षोड़श संस्कारयज्ञोंकी जिस प्रकार प्रधानता है, उसी प्रकार आर्य्य महिलाओंके लिये उद्वाहयज्ञकी ही विशेषता है। नारोधर्म तपःप्रधान और पातिव्रत्यमूलक होनेसे ऐसा होना सिद्ध ही है और जब पातिव्रत्यधर्मका बीजरूप विवाहसंस्कार है तो, उसकी पूर्णताके द्वारा नारीजातिको दैवी सहायता मिलनी भी निश्चित है। यद्यपि पूर्व्वकथित षोड़शसंस्कारोंमेंसे बहुतसे संस्कारयज्ञ नारी जातिके लिये हितकर हैं और कन्याके लिये किये भी जाते हैं: परन्तु नारीजातिके लिये उद्वाहसंस्कारयज्ञ ही विशेष धर्मरूपसे मुख्य है। पूर्व्वजन्मके संस्कारसे यदि कोई कन्या ब्रह्मवादिनीके लक्षणसे युक्त हो तो, उसके लिये उपनयन संस्कारादिकी आज्ञा शास्त्रोंमें पायी जाती है, परन्तु नारीधर्म तपोमूलक और नारीसदाचार सतीत्वमूलक होनेके कारण नारी जातिके लिये उद्वाहसंस्कार सर्वप्रधान माना गया है ॥ ४१ ॥

प्रसङ्गसे दैवी सहायताका काल निर्णय किया जाता है:—

सन्धिका समय होनेके कारण ऋतुके पहले होनेसे दैवी सहायता होती है ॥ ४२ ॥

प्राकृतिक नियम यह है कि, नारीशरीरमें रजोधर्म होते ही नारीशरीरकी पूर्णताके कारण उसमें स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी आकर्षण

नारीणामुद्वाहो विशेषः ॥ ४१ ॥
प्रागृतुप्रवृत्तेः सन्धिभावात् ॥ ४२ ॥

और चिकर्षण शक्तिका अनुभव होने लगता है। सुतरां इन्द्रियभावरहित बाल्यावस्था और इन्द्रियभावसे युक्त यौवनावस्थाकी वह सन्धि होनेके कारण इस घोर परिवर्त्तनकी दशामें संस्कारशुद्धिकी परम आवश्यकता होती है। उसी कारण ऋतुधर्म होनेके पहले नारीका उद्वाहसंस्कार होनेसे दैवीकृपाप्राप्तिका मार्ग खुला रहता है। यह पहले ही कहा गया है कि, सब वैदिक संस्कारयज्ञोंका यह मौलिक सिद्धान्त है कि, दैवी सहायता प्राप्त करके मनका बुद्धिका अथवा उभयका बल प्राप्त करना और वह बल, इस प्रकारसे प्राप्त करना कि, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसका मार्ग सरल बना रहे। नारी-जातिके इस संस्कारयज्ञके विषयमें दैवीसहायता प्राप्तिपूर्व्वक उस लक्ष्यको लाभ करनेके लिये यही समय परम अनुकूल है। यद्यपि देवतागण सब समय ही सहायता दे सकते हैं, परन्तु प्राकृतिक बाधा उत्पन्न होनेपर उनकी सहायतामें अनेक विघ्न हो सकते हैं और उस प्राकृतिक बाधाका उत्पन्न होना रजोधर्मके बाद स्वतः सिद्ध है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, संस्कार शुद्धिको दृढ़ और अव्यर्थ करनेके लिये यही समय परमोपयोगी है॥ ४२॥

शङ्काका समाधान किया जाता है:—

पुरुषोंके लिये सब हैं॥ ४३॥

अब यदि जिज्ञासुके अन्तःकरणमें ऐसी शङ्का हो कि, स्त्रीजातिके लिये उद्वाहसंस्कारयज्ञकी प्रधानता है, उसी प्रकार पुरुषके लिये किसकी प्रधानता है? इस प्रकारकी शङ्काके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, पुरुषके लिये षोड़श संस्कारोंमेंसे किसीकी प्रधानता है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। वस्तुतः पुरुषके लिये सभी संस्कारोंकी प्रधानता है। इसका प्रधान कारण यह है कि, उक्त संस्कारोंमें अभ्युदय और निःश्रेयसका नियमबद्धक्रम बाँधा गया है। इसका विस्तृत विज्ञान पहले ही वर्णित हो चुका है। विशेषतः पुरुषधर्म यज्ञप्रधान होनेसे और पुरुषके अभ्युदयके साथ निःश्रेयसका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण नियमितरूपसे एकके बाद दूसरे संस्कार होनेकी आवश्यकता है॥ ४३॥

संस्कारशुद्धिकी विलक्षणता कही जाती है:—

पुरुषाणान्तु सर्व्वे॥ ४३॥

प्रकृतिवैचित्र्यसे संस्कारशुद्धि वैचित्र्यपूर्ण है ॥४४॥

पुरुषकी संस्कारशुद्धि तथा स्त्रीकी संस्कारशुद्धिके साधनमें पार्थक्य देख कर जिज्ञासुके हृदयमें शङ्का हो सकती है कि, संस्कार-शुद्धिके विषयमें कोई क्रम है या नहीं ? ऐसी शङ्काओंके समाधानमें कहा जाता है कि, जीवकी प्रकृति नाना प्रकार वैचित्र्यपूर्ण होती है, इस कारण संस्कारशुद्धिके साधन भी वैचित्र्यपूर्ण हैं। त्रिगुणभेद, बुद्धिभेद, अधिकारभेद आदिके कारण कर्मबीजसंस्कारके बलमें तारतम्य हुआ करता है। जिस प्रकार आम्रबीज समतलभूमिमें उगने पर अमृतत्व प्रकट करने पर भी पार्वत्यभूमिमें उगने पर वही बीज अम्लत्व प्रकट करता है। उसी प्रकार करौंदा समतलभूमिमें अत्यम्ल होनेपर भी पार्वत्यभूमिमें अतिस्वादिष्ट और सुमिष्ट होता है। सुतरां प्रकृतिवैचित्र्य होनेके कारण विभिन्न विभिन्न अधि-कारीके लिये संस्कार वैचित्र्य होना भी स्वतःसिद्ध है.॥४४॥

उदाहरणसे विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं ।:—

इस कारण आततायिवधमें दोष नहीं है ॥४५॥

जीववधमें पाप होता है और मनुष्यवधमें अधिक पाप होता है, परन्तु आततायीके वधमें पाप नहीं होता है। आततायीके लक्षण और उसके वधमें पाप नहीं होता है इस सम्बन्धमें स्मृति शास्त्रमें भी कहा है:—

> अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
> क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाऽविचारयन् ।
> नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥

अग्नि लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर मारने आने-वाला, धन भूमि और स्त्रीको हरण करने वाला ये छः प्रकारके आततायी होते हैं। आततायीको आता हुआ देख विना विचारे वध करना चाहिये। आततायीको वध करनेसे हन्ताको पाप नहीं होता है।

संस्कारशुद्धिवैचित्र्यं प्रकृतिवैचित्र्यात् ॥४४

अतो दोषो नाततायिवधे ॥४५॥

कर्मोंके बीज संस्कारसे फलोत्पत्तिमें देवतागण कारण हैं; क्योंकि कर्म जड़ होनेसे वह दैवाधीन है। दूसरी ओर कर्त्ताके चित्तमें जैसा भाव होता है, उसी जातिका संस्कार उसके चित्तमें अंकित होता है। यदि उसके चित्तमें अशुद्ध भाव रहे, तो संस्कार भी अशुद्ध होगा और यदि कर्त्ताके चित्तमें भावशुद्धि रहेगी, तो संस्कार पुण्यजनक और शुद्ध होगा। प्रथम तो आततायी होनेके कारण वह कार्य्य दैवनियमके अनुकूल होगा और दूसरी ओर हन्ताका चित्त भावशुद्धिसे युक्त होनेके कारण उसको पाप होही नहीं सकता है ॥ ४५ ॥

प्रसंगसे राज्याभिषेक संस्कारकी आवश्यकता बताई जाती है—

इसीलिये राजाओंको अभिषेककी अपेक्षा होती है ॥४६॥

शास्त्रोंमें लिखा है कि, यदि नरपति योग्य हो तो उसके शरीरमें देवताओंका अंश प्रकाशित होता है; यथाः—

> इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
> चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥
> यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
> तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
> यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम् ।
> अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत् ॥

इन्द्र, वायु, यम, सूर्य्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुवेर इन अष्ट दिक्पालोंके अंशोंसे राजाकी उत्पत्ति होनेसे राजा निज तेजके द्वारा समस्त प्राणियोंको अभिभूत करते हैं। धर्मपरायण राजा देवांशसे उत्पन्न तथा अधर्मपरायण और प्रजापीड़क राजा राक्षसोंके अंशसे सम्भूत है। वस्तुतः यह संसार देवासुर-संग्रामसे सदा युक्त रहता है इसी कारण पवित्रात्मा, सदाचारी और धार्मिक राजाका शरीर देवताओंका पीठ बनता है और अपवित्र कदाचारी तथा अधार्मिक राजाका शरीर असुरोंका पीठ बन जाता है। यदि नरपति योग्य हो तो उसके शरीरमें कितने ही देवताओंका

तदर्थं राज्ञामभिषेकोऽपेक्ष्यः ॥ ४६ ॥

पीठ बन सकता है, पूर्वोक्त प्रमाणमें इसीका उदाहरण दिया गया है। इस प्रमाणसे यह भी सिद्ध होता है कि जब राजामें पूर्व्वकथित देवताओंका अंश विद्यमान हो तभी वह नरपति पूर्ण-कलाओंसे युक्त कहा जायगा। सुतरां, दैवीशक्ति सम्पादन करके ही नरपति अपने पदकी योग्यता लाभ कर सकता है। इस योग्यताके लिये राज्याभिषेक संस्कारकी आवश्यकता होती है। जिस प्रकारसे पूर्वकथित यज्ञोंमें दैवी अनुकम्पा प्राप्त होती है, उसी प्रकार वेदमन्त्र, वैदिक क्रिया आदिकी सहायतासे इस संस्कारयज्ञकी सफलता होनेपर नरपतिमें अवश्य ही उक्त दैवी-शक्तियोंका विकाश हो जाता है। संस्कारयज्ञमें वैचित्र्य रहनेका यह भी एक ज्वलन्त उदाहरण है; परन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि वेदोक्त षोड़श संस्कारोंमें जिस प्रकार अभ्युदय और तदनन्तर निःश्रेयस प्राप्तिका क्रम रक्खा गया है और दूसरी ओर प्रवृत्तिनिरोध और तदनन्तर निवृत्तिपोषणकी शक्ति उत्पन्न की गई है, वह क्रम इन संस्कारोंमें नहीं है। राज्याभिषेक जैसे संस्कारयज्ञ केवल अभ्युदयजनक ही हैं, हां, यह अवश्य ही है कि, राजाकी योग्यतासे समष्टि-अभ्युदयका भी सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि नरपति योग्य होनेपर केवल अपना ही अभ्युदय नहीं करता किन्तु समस्त प्रजाके अभ्युदयका कारण बनता है। इसी कारण श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है, कि, "नराणाञ्च नराधिपः" अर्थात् मनुष्योंमें मैं राजारूप हूं ॥४६॥

कारण कहते हैं:—

धर्मरक्षक होनेसे ॥४७॥

संस्कार-शुद्धिकी विचित्रताके उदाहरणमें आततायि-वधजन्य पुण्य संस्कारोंके संग्रहका उदाहरण स्पष्ट हो है। तदनन्तर राजाके राज्याभिषेक संस्कारकी मीमांसा, दैवी शक्ति सम्पादनके उपलक्ष्यसे ही है; अतः शंकासमाधानके लिये कहा जाता है कि राजामें धर्मरक्षाकी अनन्य शक्ति विद्यमान होनेसे उसमें देवपीठका होना अवश्यम्भावी है। प्रजा तीन श्रेणीकी होती हैं, यथा—सात्त्विक-प्रजा, राजसिक प्रजा और तामसिक प्रजा। उनकी बुद्धि भी तीन प्रकारकी होती है, यथा—श्रीभगवान्ने निजमुखसे कहा है—

धर्म्मरक्षकत्वात् ॥४७॥

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्य्यं चाकार्य्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य्य, अकार्य्य, भय, अभय, बन्ध और मोक्षको जो जानती है, वह बुद्धि सात्त्विकी है। धर्म, अधर्म, कार्य्य, अकार्य्यको यथावत् नहीं जानती है, वह बुद्धि राजसी है। अधर्मको धर्म अथवा सब विषयोंमें ही जो विपरीत देखे, ऐसी तमसावृता बुद्धि तामसी है।

इन तीनों श्रेणियोंकी प्रजाओंमेंसे सात्त्विक प्रजाके लिये आत्मानुशासन, राजसिक प्रजाके लिये शास्त्र और आचार्य्य द्वारा किया हुआ शब्दानुशासन और तामसिक प्रजाके लिये राजानुशासन परम हितकर है। तामसिक प्रजाकी ही अधिकता सर्वत्र है। तामसिक प्रजाको निरंकुश न होने देनेसे ही राज्यच्छत्र भंग नहीं होता और धर्माधर्मकी व्यवस्था बनी रहती है तथा राजसिक प्रजा धर्मपालन और सात्त्विक प्रजा मोक्षमार्गका अनुसरण शान्तिपूर्व्वक करनेमें समर्थ होती है। राजानुशासनको स्थिर रखकर धर्ममार्गको सरल रखना जब नरपतिके अधीन है, तब उस नरपतिमें देवताओंका पीठ सदा विद्यमान रहनेसे ही यह दैवकार्य्य यथावत् रूपसे संसाधित हो सकता है। यदि ऐसा न हो तो राज्यमदसे मदान्ध अपवित्र राजा धर्म तथा मोक्षमार्गका भ्रष्टकारक और प्रजाका दुःखदायी बन जाता है। सुतरां, नरपतिको दैवीशक्ति-सम्पन्न बनानेके लिये राज्याभिषेक संस्कारयज्ञ अति सहायक है॥ ४७॥

दूसरा कारण कहते हैंः—

दण्डविधाता होनेसे भी॥ ४८॥

तामसिक और स्वभावसे पापरत प्रजाको पापसे विरत रखनेके लिये, धर्मका मार्ग सुगम करनेके लिये, असाधुओंसे साधुओंकी

दण्डयितृत्वाच्च॥ ४८॥

रक्षा करनेके लिये और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष इन चतुर्वर्गोंकी शृंखला ठीक रखनेके लिये दण्ड ही एकमात्र आश्रय है और वह दण्ड राजाके हाथमें होता है। दण्डकी महिमाके विषयमें स्मृति-शास्त्रमें ऐसा कहा है:—

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्म्मान्न चलन्ति च ॥
स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः ।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥

राजाके प्रयोजन सिद्धिके लिये पूर्व कालमें श्रीभगवान्‌ने सब प्राणियोंके रक्षक धर्मपुत्ररूपी ब्रह्मतेजोमय दण्डको उत्पन्न किया। उस दण्डके भयसे सब चराचर प्राणी भोग भोगनेके लिये तत्पर होते हैं और अपने धर्म्मसे विचलित नहीं होते हैं। वह दण्ड ही राजा है वह दण्ड ही पुरुष है वह दण्ड ही नेता है वह दण्ड ही नियन्ता है और चारों आश्रमोंके धर्मका दण्ड ही प्रतिनिधि है। दण्ड ही सब संसारको अच्छे मार्गमें प्रवर्तित करता है, क्योंकि स्वभावशुद्ध मानव कठिनतासे प्राप्त होते हैं, दण्डके ही भयसे सब संसार भोगादि कार्यमें प्रवृत्त होता है। दण्डसे ही निपीडित होकर देवता दानव गन्धर्व राक्षस पक्षी और सर्प ये भी भोगके लिये समर्थ होते हैं। इससे दण्ड ही सब प्रजाको आज्ञा करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, दण्ड ही सोनेपर जगाता है, पण्डितगण दण्डहीको धर्म्म कहते हैं।

सुतरां, राजा दण्डधारी होनेके कारण राजामें इन्द्र और यमका

पीठ होना अवश्य ही उचित है। नहीं तो राजा प्रमादग्रस्त होकर अपना और प्रजा दोनोंका अकल्याण कर सकता है। इस कारण नरपतिको राज्याभिषेक संस्कारसे अपने शरीर और मनको दैव-राज्यसे सम्बन्धयुक्त करना उचित है और तदनन्तर सदाचार और स्वधर्मपालन द्वारा उस शक्तिकी सुरक्षा करना उचित है ॥४८॥

अब संस्कारशुद्धि-प्रसंगसे पुनः कह रहे हैं:—

इसलिये आशौच सफल है ॥ ४६ ॥

प्राकृतिक वैचित्र्य होनेसे नाना अवस्थाओंमें नाना प्रकारसे संस्कारशुद्धि हुआ करती है, इसलिये कर्मरहस्यके जाननेवाले पूज्यपाद महर्षियोंने नाना श्रेणीकी संस्कारशुद्धियोंका वर्णन धर्म-शास्त्रोंमें किया है। उस वैचित्र्यका एक उदाहरण और दे रहे हैं। पूर्वकथित प्रकृतिवैचित्र्य और दैवकारण होनेसे शास्त्रोंमें जो आशौच प्रकरण हैं, उनकी सिद्धि होती है। धर्मशास्त्रोंमें मरणाशौच और जननाशौच इन दो प्रकारके आशौचोंका वर्णन पाया जाता है। इस आशौच अवस्थामें काल और क्रियाकी सहायता जो शास्त्रोंके शुद्धि प्रकरणमें विवृत है, वह भी इसी विज्ञानमूलक है। इस मृत्युलोकमें जीवित अवस्थामें ही आत्मीयोंके साथ पारस्परिक सम्बन्ध निर्णीत होता है। पूर्वजन्मार्जित नाना कर्मोंके वेगसे कई प्रकारके कर्मोंके जीवोंका एक जातिमें, एक कुलमें और विशेष आत्मीयताका सम्बन्ध रखते हुए जन्म होता है। वह सम्बन्ध स्थूल शरीरमूलक है और जन्मसे प्रारम्भ होता है तथा मृत्यु होनेपर उसका परिवर्त्तन हो जाता है। इसी कारण जन्म और मृत्यु दोनोंकी सन्धियोंमें आशौचका होना स्वाभाविक है। समष्टि और व्यष्टिका सम्बन्ध जिस प्रकार एक भावसे गुम्फित रहता है, कुल और कुलोत्पन्न व्यक्तिका सम्बन्ध भी उसी प्रकार समझना उचित है। आर्य्यजाति जिसकी पवित्रता वर्णाश्रमधर्म द्वारा विशेषरूपसे सुरक्षित है, जिसका वर्णन विस्तृतरूपसे पहले आ चुका है, उसकी घनिष्ठता दैवराज्यसे होनेके कारण और विशेष विशेष कुलकी सुरक्षा पितरोंके द्वारा होते रहनेके कारण प्रत्येक कुलमें किसी व्यक्तिका प्रवेश होना अथवा कुलसे निकल जाना एक साधारण विषय नहीं है; क्योंकि ऐसे दैवसुरक्षित कुलका हिसाब दैव जगत्में

अतः सफलमाशौचम् ॥ ४६ ॥

रक्खा जाता है। जिस प्रकार एक वैश्यको अवस्थाविशेषमें धनकी प्राप्ति और अवस्थाविशेषमें धनका नाश होते समय यथाक्रम आनन्द और निरानन्द होना सर्वथा युक्तियुक्त है, ठीक उसी प्रकार कुलके व्यक्ति चाहे इस लोकमें हों, चाहे परलोकमें हों, उनको अपने कुलकी पुष्टिसे आनन्द और कुलके क्षयसे निरानन्द होना भी स्वतः सिद्ध है। दूसरी ओर संस्कारराज्य और कर्मराज्यमें इन दोनों सन्धियोंका बहुत कुछ धक्का लगता है; यद्यपि सबको समान धक्का न लगे, परन्तु इन सन्धियोंमें पितृलोक और मृत्युलोकमें बड़ा परिवर्तन होनेका अवसर है, यह माननाही पड़ेगा। ऐसे परिवर्त्तनके समयमें संयमके द्वारा संस्कारशुद्धि और क्रियाशुद्धि का करना कर्मविज्ञान-अनुमोदित होगा। अतः इन दोनों सन्धियोंमें शास्त्रोक्त आशौचकी रीतिको माननेसे अनेक उपकार हैं। यथा-कुलरूपी एक समष्टि शरीरमें राग और अभिनिवेशजनित अदृश्यरूपसे जो आवरण अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है उससे विमुक्त होना, कुलदेवताका सम्वर्द्धन, पितरोंका सम्वर्द्धन, इन दोनों सन्धियोंमें संयम द्वारा आत्मशुद्धि; कुलके समष्टि सम्बन्धकी दृढ़ता इत्यादि। यदि जिज्ञासुको यह प्रश्न हो कि, ज्ञानी व्यक्तिके वियोगमें, शत्रुभावापन्न आत्मीयके वियोगमें और अतिप्रिय आत्मीयके वियोगमें समान क्रिया क्यों करनी पड़ती है ? अल्पवयस्क बालक और वृद्धके आशौचमें समानता क्यों नहीं होती ? कुलकी विवाहिता कन्याका आशौच क्यों नहीं लगता ? इन श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह हैकि, आशौचका विज्ञान संस्कारमूलक है और उसकी शुद्धि भी अन्तर्जगत् सम्बन्धी संस्कारविमुक्तिसे अधिक सम्बन्ध रखती है। आत्मीय ज्ञानी हो अथवा शत्रु हो, कुलजनित नियम एक ही होना चाहिये। वृद्ध आत्मीय और बालक आत्मीय दोनोंके संस्कार-जनित सम्बन्धमें अनेक अन्तर है। विवाहित कन्याका दान कर दिया जाता है, इस कारण तत्वतः उससे कुलसम्बन्ध नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो दान सिद्ध नहीं होता है। संक्षेपसे इन सब समाधानोंके द्वारा आशौच प्रकरणकी सिद्धि होती है ॥ ४६ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं—

चातुर्वर्ण्यमें उसका तारतम्य होता है ॥ ५० ॥

तत्तारतम्यं चातुर्वर्ण्ये ॥ ५० ॥

स्मृतिशास्त्रमें ऐसी आज्ञा पाई जाती है कि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके आशौचान्तके कालमें भेद है। यह भी आशौच-विज्ञान जो संस्कारमूलक है, उसको सिद्ध करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण चार श्रेणीके संस्कारोंसे स्थापित हैं। इन वर्णोंमें आए हुए व्यक्तियों पर जैसा कुलसंस्कार-का प्रभाव है, वैसा जातिसंस्कारका भी प्रभाव है। उसी विशेष विशेष वर्णके आध्यात्मिक अधिकारके अनुसार ही इस प्रकार आशौ-चशुद्धिमें कालका भेद रक्खा गया है। कहीं कहीं कालनिर्णयके विषयमें धर्माचार्योंका मतभेद पाया जाता है, परन्तु मौलिक विज्ञानके विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं है। वस्तुतः वर्णधर्मके अनुसार जो भेद शास्त्रोंमें पाया जाता है, उसमें प्रकृति-वैषम्य और आध्यात्मिक स्थितिवैषम्य कारण है; ऐसा मानना उचित है ॥ ५० ॥

और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

वहां विशेषताके कारण भी वैषम्य है ॥ ५१ ॥

केवल वर्णके अनुसार आशौचके कालनिर्णयमें वैषम्य नहीं पाया जाता, किन्तु अन्य प्रकारसे भी आशौचकी अवधिमें भी कालवैषम्य पाया जाता है। नाना अवस्थाओंमें आशौचके कालके विषयमें धर्मा-चार्यगण विभिन्न प्रकारकी व्यवस्था देते हुए दिखाई देते हैं, उसका कारण भी पूर्वोल्लिखित विज्ञान ही है। कुलसम्बन्ध-विचार, कुलमें पर्य्याय-सम्बन्ध विचार, व्यक्तिके आयुसम्बन्धका विचार, जबसे संस्कार उत्पन्न हो उसका विचार इत्यादि विषयों-को सन्मुख रखकर तथा जिसके लिये आशौच होता है और जिसके शरीर पर आशौचका प्रभाव पड़ता है उनका विचार, इस प्रकारसे नाना देश, काल और पात्रका विचार करके धर्माचार्य्य-गण आशौचका काल निर्णय किया करते हैं। यदि दूर देशमें कोई आत्मीय रहे और वह ब्राह्मण हो तथा आशौचका संवाद यदि दश दिन पीछे पहुंचे, तो जिस दिन सुने, उसी दिन आशौचान्त होता है। इसी प्रकार बालकके लिये मृताशौचका काल थोड़ा होता है। जिस मृत व्यक्तिका शरीर न मिला हो, उसके आशौचकी

तत्र विशेषतोऽपि वैषम्यम् ॥ ५१ ॥

व्यवस्था अन्य प्रकारसे होगी। इत्यादि जो आज्ञाएं शास्त्रोंमें पाई जाती हैं, उन सबोंका निर्णय उभयपक्षका विचार कर और कर्मकी गतिपर लक्ष्य रखकर पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार किया जाता है।

प्रकृतिवैचित्र्य, अधिकारवैचित्र्य और अवस्थावैचित्र्यके कारण संस्कारको शुद्ध करनेके लिये और उसके द्वारा धर्मोन्नति करानेके लिये अनेक प्रकारके साधनोंका धर्मशास्त्रमें वर्णन पाया जाता है। जिनके सिद्धान्तकी मीमांसा हो सकती है, परन्तु अलग अलग क्रियाकी मीमांसा सम्भव नहीं। इस कारण पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने त्रिगुणभेदसे केवल तीन श्रेणीके धर्मोन्नतिकारी संस्कारोंकी मीमांसा करके इस गुरुतर विषयका दिग्दर्शन कराया है। उन उदाहरणोंमेंसे आततायीके वधमें हिंसाजनित संस्कार, तमोगुण, राज्याभिषेक रजोगुण और आशौच सत्त्वगुणके उदाहरण हैं ॥५१॥

प्रकृत विज्ञानको पुनः कह रहे हैः—

अन्य संस्कारसमूह भी वैसे हैं ॥५२॥

वैदिक संस्कारयज्ञों तथा अन्यप्रकारकी संस्कारशुद्धियों की मीमांसा करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार वेद और विभिन्न शास्त्रीय संस्कारयज्ञोंकी मीमांसा कर रहे हैं। संस्कारयज्ञसमूह तीन भागोंमें विभक्त हैं, यथा—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। यथा—

"वैदिको तान्त्रिकी मिश्रा त्रिविधा कर्मचोदना।"

स्मार्त, पौराणिक, और तांत्रिक ये तीनों प्रकारके कर्मकाण्ड ही तांत्रिक कर्म कहाते हैं और जिस कर्ममें तान्त्रिक और वैदिक दोनों मिश्रित हों वह मिश्रित कहाता है। वेदसम्मत संस्कारयज्ञ चाहे मिश्र हों, चाहे तान्त्रिक हों, सब ही दैवी सहायता प्राप्त कराने वाले हैं; क्योंकि वे यज्ञ भी वेदविहित और शास्त्रीय-विज्ञानमूलक हैं। विशेषतः मिश्र और तान्त्रिक संस्कारयज्ञसमूह भी वैदिक संस्कारयज्ञकी रीतिपर द्रव्यशुद्धि, क्रियाशुद्धि आदि पूर्व कथित सप्त अंगोंसे पूर्ण होते हैं। तथा वे भी प्रवृत्तिरोधक और निवृत्तिपोषक होते हैं ॥५२॥

प्रकृत विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैः—

त्रिविध शुद्धियुक्त होनेसे ॥५३॥

अन्येऽपि तथा ॥५२॥
त्रिविधशुद्धिमत्त्वात् ॥५३॥

जिस प्रकार वैदिक संस्कारयज्ञका प्रभाव बुद्धिपर, मनपर और शरीरपर पड़ता है, उसी प्रकार तान्त्रिक और मिश्रका प्रभाव भी उन तीनोंपर पड़ता है। जिस प्रकार वैदिक संस्कारोंके द्वारा यथावश्यक अध्यात्मशुद्धि, अधिदैवशुद्धि और अधिभूतशुद्धि होती है। उसी प्रकार मिश्र और तान्त्रिक संस्कार भी त्रिविध शुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥५३॥

प्रसंगसे शंकाका समाधान किया जाता हैः—

अवैदिक संस्कार असम्पूर्ण होनेपर भी संकल्पयुक्त होनेसे निष्फल नहीं होते ॥ ५४ ॥

यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शंका हो कि वैदिक-मतावलम्बियोंमें बहुतसे ऐसे लौकिक संस्कार देखनेमें आते हैं कि, जो पूर्वकथित सप्त अंगोंसे पूर्ण नहीं हैं, उसी प्रकार अनेक स्मार्त आचार भी देखनेमें आते हैं। दूसरी ओर अवैदिक विभिन्न उपधर्मावलम्बियोंमें भी अनेक संस्कार होते हुए देखे जाते हैं कि जिनमें भी पूर्वोक्त प्रकारके सप्त अंगोंकी पूर्णता देखनेमें नहीं आती है, तो क्या, वे सब अवैदिक संस्कार सर्वथा निष्फल होते हैं ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। यद्यपि वेद तथा वेदानुकूल शास्त्रोंके कर्मविज्ञानसे रहित संस्कारकी क्रियाओंमें पूर्वकथित सप्त अंग नहीं पाये जाते हैं और न उनमें त्रिविध शुद्धिका ही क्रम रहता है, परन्तु संकल्प अवश्य रहता है, इस कारण संकल्पजनित फलका होना भी स्वतः सिद्ध है, क्योंकि संकल्पसे संस्कारका संग्रह अन्तःकरणमें अवश्य ही होता है। संकल्प ही संस्कारका मूल है। इस कारण अवैदिक संस्कारसमूह सर्वथा अपूर्ण तथा पूर्णफलप्रद न होनेपर भी एकबार ही निष्फल नहीं हुआ करते हैं ॥ ५४ ॥

संस्कारके भेद कहे जाते हैंः—

स्थूल, सूक्ष्म भेदसे वह द्विविध है ॥५५॥

यह संसार सूक्ष्म और स्थूल दो भागोंमें विभक्त है। सूक्ष्म

अवैदिकोऽप्यपूर्णो न निष्फलः संकल्पवत्त्वात् ॥ ५४ ॥
स द्विविधः स्थूलसूक्ष्मजन्यत्वात् ॥५५॥

देवराज्य और स्थूल मृत्युलोक उसके उदाहरण हैं। दोनोंका सम्बन्ध अतिघनिष्ठ है, यही कारण है कि स्थूल अन्न और स्थूल जलसे किए हुए श्राद्ध-तर्पणादि सूक्ष्म जगत्में रहनेवाली आत्मा तथा अन्य स्थानोंमें जन्मग्रहण करनेवाली आत्माओंको तृप्त कर सकते हैं। दूसरी ओर मनसे मानसपूजाका फल इस लोकमें प्राप्त होकर उपासनाकार्य्यकी सिद्धि होती है। इसी कारण संस्कारकी गति भी दो श्रेणीकी मानी जाती है, जिसका वर्णन आगे किया जाता है ॥५५॥

प्रथमका वर्णन कर रहे हैं:—

दीक्षा-सन्न्यासादि सूक्ष्म-सम्बन्धयुक्त हैं ॥५६॥

प्रथम श्रेणीके उदाहरणमें दीक्षा सन्न्यासादिको समझना उचित है, क्योंकि दीक्षामें प्रवृत्तिमार्गके त्यागजनित सङ्कल्प और इष्टके साथ घनिष्ठता तथा आत्मसमर्पण सूक्ष्मराज्यकी सहायतासे सुसिद्ध होते हैं, उसी प्रकार सन्न्यासमें संकल्प द्वारा ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, तथा मध्यलोकका त्याग और शरीरसम्बंधीय धारणाका त्याग अन्तःकरणकी सहायतासे किया जाता है। इस श्रेणीके संस्कार साक्षात् रूपसे सूक्ष्म जगत्से ही सम्बन्ध रखते हैं। इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये समझना उचित है कि, दीक्षाका गुरूपदिष्ट मन्त्र अथवा संन्यासका प्रेषमन्त्र गुरुके मुखसे उच्चारित होनेके अनन्तर सीधा अन्तःकरणमें पहुँचकर पूर्णरूपसे फल उत्पन्न करता है। उक्त संस्कारोंमें सिद्धिलाभ करनेके लिये किसी भी वहिःक्रिया या स्थूल पदार्थकी अपेक्षा नहीं रहती है। दीक्षामें केवल गुरुमन्त्रका कर्णकुहरके द्वारा अन्तःकरणमें पहुंचना ही मुख्य है, उसी प्रकार सन्न्याससंस्कारमें प्रेषमन्त्रका सुन लेना ही मुख्य है ॥५६॥

अब द्वितीयका वर्णन किया जाता है: —

अन्त्येष्टि-क्रियाप्रभृति अन्य सम्बन्धसे युक्त हैं ॥५७॥

दूसरी श्रेणीके उदाहरणमें अन्त्येष्टिक्रिया आदि संस्कार समझना उचित है। अन्त्येष्टि क्रियाके समय अन्तर्जलीसे प्राणवायुका

दीक्षासन्न्यासादयः सूक्ष्मसम्बद्धाः ॥५६॥
अन्त्येष्टिप्रभृतयोऽन्यसम्बद्धाः ॥५७॥

ऊर्द्ध्व निर्गमन होता है। यथाविधि गंगातटादिपर अन्त्येष्टि-क्रिया करनेसे परलोकगामी आत्माके स्थूल शरीरकी पवित्रता सम्पादन द्वारा उसको शान्ति प्राप्त होती है। अन्त्येष्टि-क्रियाकी पूर्वावस्थामें स्थूल शरीरपरका प्रभाव सूक्ष्म शरीर-पर इस प्रकारसे पड़ता है कि जिससे परलोकगामी आत्माकी ऊर्द्ध्वगति हो जाती है। यह विज्ञानसिद्ध है कि प्राणमय कोष ही अन्य तीन कोषोंके साथ जीवात्माको साथ लेकर अन्नमय कोषरूपी स्थूल शरीरको छोड़कर लोकान्तरमें गमन करता है। दूसरी ओर यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि स्थूलतर तत्त्व सूक्ष्म-क्रियाको बाधा दे सकता है, उसी नियमके अनुसार अर्द्धनाभी तक स्थूल शरीरके नीचेका भाग जलमें डूबे रहनेके कारण प्राणमय-कोषप्रधान आतिवाहिक सूक्ष्म देह नाभी तथा नाभीके निम्न द्वारोंसे न निकल कर ऊर्द्ध्व द्वारोंसे निकलता है; सुतरां ऊर्द्ध्व द्वारसे निर्गमन होनेके कारण जीवात्माकी ऊर्द्ध्वगति अवश्यम्भावी है। अन्त्येष्टि-क्रियाकी दूसरी अवस्था केवल स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध रखती है; अर्थात् परलोकगामी आत्माका छोड़ा हुआ स्थूल शरीर यदि तुरत ही गंगाजल अग्नि आदिके संस्पर्शसे पवित्रता लाभ करे अथवा उसके परमाणु-समूह दैवी सहायतासे रूपान्तरको प्राप्त होते हुए भी पवित्र हो जायं तो इस संस्कारके द्वारा परलोकगामी आत्माको आध्यात्मिक उन्नतिमें कुछ सहायता पहुंचती है, ऐसा मानना ही पड़ेगा। इस विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये यह समझना उचित है कि, स्थूल देहके साथ अति घनिष्ठ सम्बन्ध रहनेके कारण शरीरके त्यागके अननंतर भी उस परलोकगामी आत्माकी दृष्टि उस मृत देहकी ओर रहना सम्भव है, ऐसी दशामें यदि वह स्थूल देह अथवा उस देहके परमाणुसमूह पवित्रता लाभ करें तो उस पवित्रताका संस्कार उस परलोकगामी आत्मामें अवश्य लगेगा। क्योंकि अन्तःकरण जिस श्रेणीके पदार्थोंको ग्रहण करता है उसी श्रेणीके संस्कार उसके चित्तमें अंकित होते हैं। अतः इस द्वितीय श्रेणीके संस्कार स्थूल शरीरकी सहायतासे सूक्ष्म शरीर पर कार्य्य करते हैं। यही पूर्व श्रेणीके संस्कारोंसे इस श्रेणीके संस्कारोंका अंतर है ॥५७॥

द्विविध शरीरके प्रसंगसे कोषविकाशका रहस्य कहा जाता है:—

उद्भिज्जसे जरायुजपर्य्यन्त चार कोषोंका क्रमविकाश होता है ॥ ५८ ॥

स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दोनों शरीरोंकी क्रियासे सम्बन्धयुक्त अस्वाभाविक संस्कार तथा स्वाभाविक संस्कारसे युक्त अस्वाभाविक संस्कारके रहस्योंको वर्णन करके अब स्वाभाविक संस्कारसे सम्बन्धयुक्त नाना पिण्डोंमें कोषोंके क्रमविकाशका रहस्य वर्णन किया जाता है। पूर्वमें जिन संस्कारोंका वर्णन किया गया है, वे सब अस्वाभाविक संस्कारकी श्रेणीमें ही कहे जा सकते हैं। यद्यपि वैदिक षोड़श संस्कारोंमें ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रिया रक्खी गई है कि, उन संस्कारयज्ञोंके द्वारा स्वाभाविक संस्कारकी गति सरल होकर अस्वाभाविक संस्कारकी गति रुद्ध हो जाती है; परन्तु पूर्व कथित सब संस्कार-समूह मनुष्यसंकल्पके अधीन होनेके कारण उनको अस्वाभाविक संस्कारकी श्रेणीमें ही किसी न किसी प्रकारसे मान सकते हैं। पहले वैदिक सोलह संस्कारोंको स्वाभाविक संस्कारके अन्तर्गत कहकर अब अस्वाभाविक संस्कारकी श्रेणीमें कहनेसे शंका हो सकती है। इस कारण शंका समाधानके लिये कहा जाता है कि मनुष्यसंकल्पजात अस्वाभाविक संस्कारको दो श्रेणीमें विभक्त कर सकते हैं, एक मनुष्यवासनाजनित जिसमें स्वाभाविक संस्कारके विकसित होनेके लिये अवसर नहीं रहता है और दूसरे वैदिक प्रेरणासे वैध संकल्पके द्वारा उत्पन्न संस्कार, जो मनुष्यसंकल्पसे सम्बन्ध रखनेपर भी और रूपान्तरसे अस्वाभाविक होनेपर भी उनके द्वारा अस्वाभाविक संस्कारजाल क्रमशः छिन्न होता जाता है और दूसरी ओर स्वाभाविक संस्कारकी शक्ति जो मनुष्यके निरङ्कुश संकल्पोंसे निस्तेज हो गई थी, उस शक्तिका क्रमविकाश होता जाता है। इस विज्ञानको यों भी समझ सकते हैं कि जैसे स्वाभाविक संस्कार उद्भिज्जयोनिसे मनुष्ययोनि पर्य्यन्त क्रमशः नियमित कार्य्यकारी होकर मनुष्ययोनिमें अस्वाभाविक संस्कारके प्रकट होनेपर दब जाता है और पुनः मनुष्यके जीवन्मुक्त हो जानेपर पूर्ण स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार अस्वाभाविक संस्कार ठीक विपरीत गतिको प्राप्त

उद्भिज्जमाजरायुजं चतुष्कोषक्रमोन्मेषः ॥ ५८ ॥

होकर मनुष्यकी स्वाभाविक दशामें अपनी पूर्ण शक्तियोंको दिखाता है और वेदसम्मत संस्कार यज्ञोंके द्वारा हीनबल हो जाता है। इस कारण यह कह सकते हैं कि, बाह्य स्वरूपसे वैदिक संस्कारसमूह मनुष्यसंकल्पसे सम्बन्ध रखने वाले अस्वाभाविक संस्कारके समान होनेपर भी वह स्वभावतः स्वाभाविक संस्कार मूलक ही हैं। इसी कारण वे मुक्ति-प्रदान करनेमें समर्थ होते हैं। अब इस सूत्रमें जो आदि सृष्टिसे सम्बन्धयुक्त क्रम-अभिव्यक्तिका वर्णन किया जा रहा है, वह सब स्वाभाविक संस्कारके बलसे ही सम्बन्ध रखती है। स्वाभाविक संस्कार चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होते समय प्रारम्भ होता है, उसीके बलसे प्रकृति-माताकी स्वाभाविक क्रिया और उसके स्वाभाविक स्पन्दनकी गतिके अनुसार दैवी सहायतासे जीव स्वतः उद्भिज्जयोनिसे स्वेदजयोनि और स्वेदजयोनिसे जरायुजयोनि इस प्रकारसे आगे बढ़ता जाता है। इसी क्रमोन्नतिके स्वाभाविक नियमानुसार स्वाभाविकरूपसे दैवी सहायता प्राप्त करके जीव क्रमशः अपने स्थूल शरीरमें पंचकोषोंकी क्रमाभिव्यक्ति करता जाता है। इस प्रकारसे उद्भिज्जयोनिमें पांचों कोषोंके रहनेपर भी केवल अन्नमयकोषका विकाश होता है। स्वेदजमें अन्नमय, प्राणमय कोषोंका होता है। अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय इन तीन कोषोंका होता है और जरायुजमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चार कोषोंका विकाश होता है॥ ५८॥

सब कोषोंका विकाश कहां होता है सो कहा जाता है—

अन्तिममें सब कोषोंका विकाश होता है॥ ५९॥

क्रमाभिव्यक्तिकी अन्तिम योनि मनुष्ययोनि है। इस योनिमें जब स्वाभाविक संस्कारके बलसे जीव पहुँच जाता है तो वह कोषोंकी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है। तब वह जीव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोषोंके विकाशसे पूर्ण हो जाता है। वह पूर्णावयव जीव तब पूर्णत्व प्राप्त करनेसे धर्माधर्म-विचारका अधिकारी हो जाता है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

पितरः! पंचकोषा हि सर्वपिण्डप्रतिष्ठिताः।
आवृण्वन्तो विराजन्ते मत्स्वरूपं न संशयः॥

सर्वविकाशोऽन्तिमे॥ ५९॥

मध्यमासु निकृष्टासु तथोच्चैर्देवयोनिषु ।
सर्वास्वप्यवतिष्ठन्ते पञ्च कोषा न संशयः ॥
एतावांस्तत्र भेदोऽस्ति नूनं निम्नासु योनिषु ।
पञ्चकोषा विकाशन्ते नैव सामान्यतोऽखिलाः ॥
निखिलानान्तु कोषाणां मर्त्यपिण्डेषु निश्चितम् ।
विकाशः सर्वतः सम्यग् जायते नात्र संशयः ॥

हे पितृगण! पंचकोष सब प्रकारके पिण्डोंमें प्रतिष्ठित होकर मेरे स्वरूपको आवरण किये हुए रहते हैं। चाहे निकृष्ट योनि हो, चाहे मध्यम मनुष्ययोनि हो और चाहे उन्नत देवयोनि हो, सबमें ही पंचकोष विद्यमान हैं। भेद इतना ही है कि निकृष्ट योनियोंमें सब कोषोंका समान विकाश नहीं होता। मनुष्य-पिण्डमें सब कोषोंका सम्यक् विकाश हो जाता है ॥ ५९ ॥

प्रसङ्गसे प्रथम योनिका आश्रयस्थल बताया जाता है—

उद्भिज्ज एकमात्र पृथिवीको आश्रय करके रहता है ॥६०॥

स्वाभाविक संस्कारके बलसे उत्पन्न पिण्डसृष्टिकी सहयोगिता-से जीवकी क्रमाभिव्यक्तिका विज्ञान स्पष्ट करनेके अर्थ तथा स्थावर-भावापन्न जीवका आश्रय बतानेके अर्थ पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। चिज्जड़ग्रन्थिसे उत्पन्न प्रथम श्रेणीके पिण्डको प्राप्त करके जीव, जड़भावापन्न इस प्रकारसे रहता है कि उसमें पंच कोष रहनेपर भी चार कोष उसके एकबार ही अप्रकाशित रहते हैं और उसका केवल अन्नमय कोष ही प्रकाशित रहता है। उसमें जड़त्वकी प्रधानता और स्थावरत्वके हेतु उसको सब प्रकारसे एकमात्र पृथिवीतत्त्वके आश्रयसे रहना पड़ता है: क्योंकि अन्नमय कोषमें पृथिवीतत्त्वकी प्रधानता है। प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि मृत्युके अनन्तर जो उसका अन्नमय कोष यहां ही पड़ा रहता है, वह अन्तमें पृथिवीतत्त्वमें ही परिणत हो जाता है ॥ ६० ॥

उदाहरणसे विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं:—

ब्रह्माण्ड और पिण्डमें ऐसा देखे जानेसे ॥६१॥

क्षित्येकाश्रयत्वमुद्भिदः ॥ ६० ॥
ब्रह्माण्डपिण्डयोस्तथादर्शनात् ॥ ६१ ॥

प्रथम अभिव्यक्तिरूप उद्भिद्-जीव अनेक प्रकारके होते हैं। और उनके भेद ऐसे भी हैं कि अनेक उद्भिद् जीव पिण्डका आश्रय करके रहते हैं और अनेक उद्भिज्ज जीव ब्रह्माण्डका आश्रय करके रहते हैं। वृक्ष, लता, गुल्म और ओषधिरूपी उद्भिद् जीवसमूह ब्रह्माण्डका आश्रय करके रहते हैं; क्योंकि ये सब उद्भिद्-जीव समष्टि मृत्तिकाको आश्रित करके रहते हैं। यहां ब्रह्माण्ड शब्दसे मृत्युलोक समझना उचित है। इसका कारण यह है कि, मृत्युलोक ही पृथिवीतत्त्व-प्रधान है और पिण्डसे उद्भिद्का सम्बन्ध इसलिये कहा गया है कि अन्य जीवशरीरोंमें भी कई प्रकारके उद्भिदोंकी सृष्टि होती है। जैसे पृथिवीपरके वृक्षादिके बीजसे पृथिवी भेदन करके अंकुरोत्पत्ति होती है, उसी प्रकारसे मनुष्य आदि जीव पिण्डके चर्म आदि भेदन करके कई प्रकारके उद्भिज्ज जीव उत्पन्न होते हैं। अघटनघटनापटीयसी मायाकी यह अनन्त विचित्रता है ॥ ६१ ॥

स्वाभाविक संस्कारजात द्वितीय श्रेणीके जीवोंका आश्रयस्थल बताया जाता है:—

स्वेदज जल, अग्नि, वायु और आकाशको आश्रय करके रहता है ॥ ६२ ॥

जब स्वाभाविक संस्कारके बलसे जीव उद्भिद् कोटिसे आगे बढ़ता है, उस समय दैवी सहायता प्राप्त करके स्वेदज श्रेणीमें पहुँच जाता है, उस समय उसमें प्राणमय कोषका विकाश हो जाता है। तब उसको साक्षात् रूपसे पृथिवी-तत्त्वकी सहायता नहीं लेनी पड़ती। वह अन्य चार तत्त्वोंके आश्रयसे अपने अस्तित्व की रक्षा करता है। प्राणमय कोषकी अभिव्यक्ति होनेसे उस श्रेणीके जीवोंमें इस प्रकारसे जीवनरक्षा करनेका सामर्थ्य हो जाता है। इस कारण स्वेदज जीव सब स्थानोंमें पाये जाते हैं ॥ ६२ ॥

स्वेदज जीवकी विचित्रता सिद्ध की जाती है:—

गुणभेदसे अनेक प्रकारके होते हैं ॥ ६३ ॥

प्राणमयकोषका विकाश हो जानेसे त्रिगुणका पृथक् पृथक्

स्वेदजो जलाग्निवाय्वाकाशाश्रयः ॥ ६२ ॥

गुणभेदादनेकधा ॥ ६३ ॥

विकाश उनमें दिखाई पड़ता है। और वे सृष्टि, स्थिति और लय-कार्य्यके सहायक बन जाते हैं यही उनका वैचित्र्य है। अन्य पिण्डोंके सृष्टि, स्थिति और लयकार्य्यमें इनकी साक्षात् सहायता रहती है। इस कारण त्रिगुणभेदसे वे अनेक प्रकारके होते हैं। स्वेदज जीव आकाशादि सब भूतोंमें ही विचरणशील होनेपर भी नाना श्रेणीके पिण्डोंमें विद्यमान रहकर अपनी अलौकिकी शक्तिके द्वारा उन पिण्डोंकी सृष्टि स्थिति और नाशमें सहायता करते हैं। सुतरां पिण्डकी श्रेणी भेदसे उनके भी अनेक भेद होते हैं ॥ ६३ ॥

इस विज्ञानको और भी पुष्टि कर रहे हैं:—

वे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें रोग तथा आरोग्यको देनेवाले हैं ॥ ६४ ॥

वे जीव पिण्डोंके बाहर और भीतर रहकर समष्टिरूपसे और व्यष्टिरूपसे रोगकी उत्पत्ति और रोगके विनाशका कारण बनते हैं। जीव-स्थूल-शरीरनाशक समष्टिविष और व्यष्टिविषके उत्पादक भी वे विशेष विशेष जातिके स्वेदज होते हैं और नाशक भी विशेष विशेष जातिके स्वेदज होते हैं। सब समय स्वास्थ्यकी रक्षा वे समष्टि वायुमें विचरण करके करते हैं और उसी प्रकार महामारीके समय जब समष्टिरोगकी उत्पत्ति होती है तो वे ही उसका कारण बनते हैं। इसी प्रकार जीवशरीरमें स्वास्थ्यकी रक्षा एक श्रेणीके स्वेदज अपने प्राणसमर्पण द्वारा किया करते हैं। सब रोगोंकी आरोग्यतामें वे ही सहायक होते हैं। रोगकी उत्पति और शरीरके प्रलयकी सब अवस्थाओंमें वे ही सहायता देते हैं। उनमें प्राणशक्तिकी यह अलौकिक महिमा है ॥ ६४ ॥

विशेषत्व कहा जाता है.—

वे अतीन्द्रिय भी हैं ॥ ६५ ॥

सब प्रकारकी जीवश्रेणीमें उनका विशेषत्व यह है कि वे इन्द्रियोंके अगोचर भी होते हैं। उनके अनेक श्रेणीके जीव इतने सूक्ष्म होते हैं कि दर्शनेन्द्रियसे देखे नहीं जाते। वायुमण्डलमें भ्रमणशील स्वेदज जो प्राणवायुके द्वारा नासिका रन्ध्रमें प्रवेश करके

ब्रह्माण्डपिण्डयो रोगारोग्यप्रदाः ॥ ६४ ॥
अतीन्द्रिया अपि ॥ ६५ ॥

स्वास्थ्यकी रक्षा सब समय करते हैं, जल कणके साथ जो स्वेदज नित्य स्थित रहकर प्राणकी पुष्टि करते हैं, शरीरकी त्वचा, रक्त, मांस, रजोवीर्य्यादिमें रहकर जो सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य्य करते हैं, वे दर्शनेन्द्रियसे अगोचर हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥ ६५ ॥

योनिके कितने भेद हैं वे कहे जाते हैंः—

योनियोंके अनन्त होनेपर भी वे पांच प्रकारकी हैं ॥ ६६ ॥

जीवकी योनियोंमेंसे जिन दो श्रेणियोंकी योनियोंके विषयमें नाना प्रकारकी शंकाएं हो सकती हैं, उनका वर्णन पहले ही किया गया है। उद्भिज्जका स्थावरत्व देखकर उनके जीवत्वमें ही शंका होती है और स्वेदजोंके तो अस्तित्वमें अनेक शंकाएँ होती हैं; क्योंकि वे प्रायः अतीन्द्रिय होते हैं। इस कारण उन दोनों श्रेणियोंका विस्तारित वर्णन करके अब सब श्रेणीकी योनियोंका विषय कहा जाता है। स्वाभाविक संस्कारके क्रमाभिव्यक्तिकारी परिणामसे प्रथम उद्भिज्जकी अनेक योनियोंमें और उसके अनन्तर स्वेदजकी अनेक योनियोंमें अग्रसर होता हुआ जीव किस प्रकारसे पूर्णता प्राप्त करता है और जीवकी इस क्रमाभिव्यक्तिको कितनी श्रेणीकी योनियोंमें विभक्त कर सकते हैं? ऐसी जिज्ञासाके उत्तरमें महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जितने प्रकारकी योनियोंका अवलम्बन करके जीवकी अभिव्यक्ति होती है, उनको पांच श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा—उद्भिज्जयोनि, स्वेदजयोनि, अण्डजयोनि, जरायुजयोनि और मनुष्ययोनि ॥ ६६ ॥

चित्-कलाके विकाशके विचारसे प्रथमका वर्णन किया जाता हैः—

उद्भिज्जमें एक कला है ॥ ६७ ॥

चिज्जड़ग्रन्थिसे उत्पन्न जीवकी पांच श्रेणियोंमेंसे चित्कलाका विकाश कैसे होता है, उसके निदर्शनके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, यदि चित्कलाको सोलह कलाओंमें विभक्त किया जाय तो कह सकते हैं कि, उन सोलह कलाओंमेंसे केवल एक कलाका

योनेरानन्त्येऽपि पञ्चधा ॥ ६६ ॥
उद्भिदेककलः ॥ ६७ ॥

विकाश उद्भिज्ज योनिमें होता है। उद्भिज्जयोनिकी आत्मा पंचकोषोंसे युक्त होनेपर भी उसमें जड़त्व इतना अधिक होता है कि चित्‌कला केवल एक ही कलामें विकसित रहती है। वही एक कला कितनी कार्य्यकारिणी होती है, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

उष्मतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्य्यते चाऽपि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्मात् शृण्वन्ति पादपाः॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
नह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात् पश्यन्ति पादपाः॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्मात् जिघ्रन्ति पादपाः॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात्।
व्याधिप्रतिक्रियात्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत्।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिवति पादपः॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते॥

गर्म्मीके दिनोंमें गर्म्मी लगनेसे वृक्षोंके वर्ण, त्वचा, फल, पुष्प आदि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है। प्रबल वायु, अग्नि तथा वज्रके शब्दसे वृक्षोंसे फल पुष्प शीर्ण हो जाते हैं। कानके द्वारा शब्द सुननेसे ही ऐसा होता है; अतः उद्भिज्जोंमें श्रवणेन्द्रिय भी विद्यमान है। लता वृक्षोंको वेष्टन करती हुई सर्वत्र जाती है, आंखसे देखे विना मार्गका निर्णय नहीं हो सकता है; अतः उद्भिज्जोंमें दर्शनेन्द्रिय भी विद्यमान है। अच्छी बुरी गन्ध तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग और पुष्पित होने लगते हैं, अतः उद्भिज्जोंमें घ्राणेन्द्रिय भी विद्यमान है। पांवके द्वारा जलपान, रोग होना तथा रोगका आराम होना भी उनमें देखा जाता है, अतः उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रिय भी विद्यमान है। डण्टीके मुख द्वारा जिस प्रकारसे कमल ऊपरकी ओर जल ग्रहण करता है,

उसी प्रकार वायुसे संयुक्त होकर पांवके द्वारा वृक्ष जलपान करता है, यही सब उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियका अस्तित्व सिद्ध करता है। उद्भिज्जोंमें जो सुखदुःखके अनुभव करनेकी शक्ति देखनेमें आती है, टूट जानेपर पुनः नवीन शाखा-पत्रादिकी भी जो उत्पत्ति देखी जाती है; इससे उद्भिज्जोंमें जीवत्व है, अचैतन्य नहीं है, यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है ॥६७॥

दूसरेका वर्णन किया जाता है।—

स्वेदजमें दो कलाएं हैं ॥६८॥

भगवत्चित्सत्ताकी दो कलाओंका विकाश स्वेदजमें होता है। और इन दो कलाओंके विकाश द्वारा किस प्रकारकी शक्तिका विकाश इन जीवोंमें होता है और वे अपनी अपनी प्रकृतिके वश होकर कैसे कैसे चमत्कारका कार्य्य करनेमें समर्थ होते हैं, सो पहले विस्तारित-रूपसे कहा गया है ॥६८॥

अब तीसरेका वर्णन किया जाता है:—

अण्डजमें तीन कलाएं हैं ॥६९॥

अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय इन तीन कोषोंके विकाशके साथ साथ चित्सत्ताकी तीन कलाओंका विकाश हो जाता है। यही कारण है कि अण्डजयोनिके सब जीवोंमें मनके सब प्रकारके कार्य्योंका स्पष्ट लक्षण विद्यमान दिखाई पड़ता है। मनोवृत्तिके आकर्षण-विकर्षण-जनित रागद्वेष आदिके स्पष्ट लक्षण इस श्रेणीके जीवोंमें प्रकट हो जाते हैं। यहांतक कि, अति उन्नत श्रेणीकी पवित्र मनोवृत्तियां भी इन जीवोंमें देखनेमें आती हैं ॥६९।

चौथेका वर्णन किया जाता है:—

जरायुजमें चार कलाएं हैं ॥ ७० ॥

जरायुजयोनिके जीवोंमें स्वाभाविक संस्कारके बलसे प्रथम चार कोषोंके विकाशके साथ ही साथ चार चित्कलाओंकी अभिव्यक्ति हो जाती है। इसी कारण विज्ञानमयकोषके विकाशके साथ ही साथ

स्वेदजो द्विकलः ॥ ६८ ॥
अण्डजस्त्रिकलः ॥ ६९ ॥
चतुष्कलो जरायुजः ॥ ७० ॥

बुद्धितत्त्वका स्पष्ट लक्षण इस श्रेणीके जीवोंमें देखनेमें आता है। स्मृतिशास्त्रमें कहा है—

मसैवैका कलाशक्तेरुद्भिज्जेषु विकाशते ।
स्वेदजेषु कलाद्वैतमण्डजेषु कलात्रयम् ॥
चतस्रश्च कला भान्ति जरायुजगणेऽखिले ।
पञ्चकोषप्रपूर्णत्वान्मर्त्येषु प्रायशोऽमराः ! ॥
आकलापञ्चकादष्ट कला नूनं चकासति ।
नवारभ्य कला यावत् षोडशं मे यथायथम् ॥
संविकारयावतारेषु नानाकेन्द्रोद्भवेषु च ।
कुत्रचिन्मे प्रपूर्यन्तेऽवतारे पूर्णसंज्ञके ॥

मेरी शक्तिकी एक कलाका उद्भिज्जमें, स्वेदजमें दो कलाओंका अण्डजमें तीन कलाओंका और सब जरायुजोंमें चार कलाओंका विकाश होता है। हे देवगण! पञ्चकोषके पूर्ण अधिकारी होनेके कारण मनुष्योंमें पांच कलाओंसे लेकर आठ कलाओं तकका विकाश होता है और साधारणतः नाना केन्द्रोंसे आविर्भूत मेरे अवतारोंमें नवसे लेकर सोलह कलाओंका यथावश्यक विकाश होकर किसी पूर्णावतारमें सोलह कलाएँ पूर्ण विकसित होती हैं ॥ ७० ॥

अब पांचवेंमें कैसे प्रवेश होता है सो कहा जाता है—

जरायुजयोनिसे गुणभेदके अनुसार गो, सिंह और वानर योनियोंसे मनुष्य होता है ॥ ॥ ७१ ॥

प्रथम चार योनियोंकी अभिव्यक्तिका वर्णन करके अब इस सूत्रद्वारा पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार यह वर्णन कर रहे हैं कि, किस प्रकारसे पूर्णजीवरूपी मनुष्य योनिमें जरायुज श्रेणीका जीव प्रवेश करता है। स्वाभाविक संस्कारके बलसे प्रकृतिमाताके स्वाभाविक नियमानुसार स्वेदज, अण्डज और जरायुज श्रेणियोंमें यथानियम और यथाक्रम अग्रसर होता हुआ जीव अन्तमें त्रिगुणके स्वाभाविक परिणामके अनुसार वानर-योनिमें, सिंहयोनिमें अथवा गोयोनिमें पहुंच जाता है। तब,

तत्र गोसिंहमर्कटतो मानवो गुणभेदात् ॥ ७१ ॥

रज और सत्त्वगुणके अनुसार ये तीनों यथाक्रम भेद हैं। स्वाभाविक संस्कार और त्रिगुणका स्वाभाविक परिणाम जीवकी इस स्वाभाविक गतिका कारण है और देवताओंकी सहायतासे यह गति नियोजित होती है। इसका कारण यह है कि कर्म जड़ है और स्वाभाविक संस्कार जीवके संकल्प-जात नहीं है। अतः प्रत्येक योनिके रक्षक और चालक पृथक् पृथक् देवता हैं। एक योनिसे दूसरी योनिमें जीवको पहुँचाने तथा प्रत्येक योनिकी श्रेणियोंकी रक्षा करनेका काम प्रत्येक ब्रह्माण्डके ईश्वर त्रिमूर्तिकी आज्ञासे विभिन्न देवतागण किस प्रकारसे करते हैं सो दैवीमीमांसा दर्शनमें वर्णित है। यद्यपि वानर, सिंह और गौ भी जरायुज योनि हैं और मनुष्ययोनि भी जरायुजयोनि है, परंतु वानर, सिंह और गोयोनिमें केवल चार कोषोंका विकाश और चार कलाओंका प्रकाश होनेके कारण तथा मनुष्ययोनिमें पांचों कोषोंका पूर्ण विकाश होनेके कारण एवं मनुष्ययोनि पूर्णावयव होनेके कारण, मनुष्ययोनिमें पहुंचानेसे पहले उक्त कर्ममें नियुक्त देवतागण पूर्व्व-कथित तीन योनियोंके जीवोंके शरीरान्त होनेपर विशेष व्यवस्थाके साथ उनको उपयोगी बनाकर मनुष्ययोनिमें पहुँचा देते हैं। इसी कारण असभ्य अनार्य्य मनुष्योंमें भी त्रिगुणकी तीन श्रेणियां देखनेमें आती हैं॥ ७१॥

अब पांचवेंका वर्णन किया जाता है:—

वह पंचकलायुक्त होता है॥ ७२॥

मनुष्ययोनिमें प्राकृतिक तरङ्गके स्वाभाविक नियमानुसार जीव अग्रसर होकर पहुँचते ही उसके शरीरमें पंचकोषोंका विकाश हो जाता है और उसकी आत्मा स्वतः ही चित्सत्ताकी पांच कलाओं-को प्राप्त कर लेती है। इतना कार्य्य स्वाभाविक संस्कारके बल और प्रकृतिमाताके स्वभाव-सिद्ध परिमाणसे होता है। इसके अनंतर जीव स्वाधीनता लाभ करके अपने पिण्डका अधीश्वर बन जाता है और उसकी पूर्व कही हुई प्राकृतिक पराधीनता नष्ट हो जाती है॥ ७२॥

पञ्चकलः सः॥ ७२॥

प्रसंगसे अस्वाभाविक संस्कारकी उत्पत्ति और गति कही जा रही है:—

उसको धर्मके द्वारा पूर्ण कलाकी प्राप्ति होती है ॥७३॥

स्वाभाविक संस्कारके बलसे स्वतः ही जीव उद्भिज्जयोनिसे चल कर मनुष्ययोनिमें पहुंच जाता है। मनुष्ययोनिमें जीव पिण्डका अधीश्वर होनेके कारण अपने संकल्प आदिके सम्बन्धसे स्वाधीनता लाभ करता है और इसी कारण मनुष्य धर्माधर्मका अधिकारी बनकर अस्वाभाविक संस्कारकी सृष्टि करने लगता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, मनुष्ययोनिसे पहलेकी योनियोंमें जीव बाधारहित क्रमोन्नतिको लाभ करता रहता था, मनुष्ययोनिमें आकर वह क्रमोन्नति रुक जाती है। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रकृतिसे पराधीन उद्भिज्ज आदि श्रेणीके जीव केवल स्वाभाविक संस्कारके बलसे ही नियमित क्रमोन्नति करते थे, मनुष्ययोनिमें वह नियम भंग हो जाता है; क्योंकि मनुष्य पूर्ण जीवत्व प्राप्त करके नवीन संकल्प करता रहता है, जिससे अस्वाभाविक संस्कारका उदय होता है। वही अस्वाभाविक पापपुण्यरूपी अधर्म और धर्ममूलक संस्कार-समूह जीवको आवागमन-चक्रमें डाल कर बार बार घुमाया करते हैं। इसीसे वह पूर्व्व-क्रमोन्नतिकी अबाध गति बाधाको प्राप्त होती है। सुतरां मनुष्य जब अधर्मको छोड़कर केवल धर्मका आचरण करता है, तभी वह अभ्युदयको प्राप्त करता हुआ चित्‌कलाकी पूर्णताको प्राप्त करके निःश्रेयस लाभ करनेमें समर्थ होता है ॥ ७३ ॥

सम्यक् विकाश कैसे होता है सो कहा जाता है—

पूर्णकलाका विकाश विशेषधर्मके द्वारा होता है ॥ ७४ ॥

यद्यपि मानवधर्मके साधारणधर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म और आपद्धर्म इस प्रकारसे चार भेद पहले वर्णन किये गये हैं, परन्तु, वस्तुतः विशेषधर्मकी ही शक्तिसे अभ्युदयकी गति अबाध बनी रहती है। इसी कारण स्मृतिशास्त्रने विशेषधर्मको लक्ष्य करके विशेषधर्मकी स्तुति की है, यथा—

तद्धर्म्मसम्बद्धत्वात् पूर्णकलत्वमस्य ॥ ७३ ॥
तद्विकाशो विशेषतः ॥ ७४ ॥

यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः ।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥

अलग धर्म्मको माननेवाले अलग धर्म्मके फलकी इच्छा रखने वाले पुरुषगण, भिन्न भिन्न धर्म्मोंसे जिनकी पूजा करते हैं; उन सर्वशक्तिमान् पुरुषको नमस्कार है ।

विशेषधर्मको लक्ष्य करके ही धर्मकी स्तुति स्मृतिशास्त्रमें इस कारणसे की गई है कि, चाहे पुरुष हो,चाहे स्त्री, चाहे पृथक् वर्णका व्यक्ति हो, चाहे पृथक् आश्रमका व्यक्ति हो, चाहे प्रवृत्तिमार्गगामी हो, चाहे निवृत्तिमार्गगामी हो, चाहे किसी अधिकारका जीव हो, अपने अपने अधिकारके अनुसार नियमित रूपसे विशेषधर्मका पालन करते रहनेपर तब उसकी क्रमोर्द्ध्वगति अबाध बनी रहेगी और उसमें चित्कलाका क्रमशः विकाश होता हुआ कलाओंकी पूर्णतासे निःश्रेयसपदका उदय हो जायगा ॥ ७४ ॥

प्रसंगसे योनियोंका विशेष परिचय दे रहे हैं—

उद्भिद्में अन्नमय कोषका विकाश होता है ॥ ७५ ॥

योनियोंका विशेष परिचय देनेके अर्थ प्रथम उद्भिद्योनिका परिचय दे रहे हैं । पञ्चीकृत महाभूतके आश्रयसे ही पूर्णतमोगुण-की दशामें जो प्रथम परिणाम होकर प्रकृति प्रवाहित होती है, उसी पलटा खानेकी दशामें चिज्जड़ग्रन्थिका उदय होता है, इसका विस्तारित विज्ञान पहले कह चुके हैं । स्थूलको आश्रय करके सूक्ष्ममें यह परिणाम होता है, इस कारण जीवोत्पत्तिके साथ ही साथ पाचों कोषोंकी उत्पत्ति हो जानेपर भी इस प्रथम दशामें केवल अन्नमय कोषका विकाश होता है । इसी कारण उद्भिज्जश्रेणीके जीव स्थावरभावको प्राप्त करते हैं ॥ ७५ ।

उद्भिज्जोंकी विशेषता कह रहे हैं—

उनका आहार जल है ॥ ७६ ॥

अन्नमयकोषकी प्रधानता रखनेवाले उद्भिद् जीव जलके द्वारा पुष्ट होते हैं । जिस पदार्थके द्वारा जिसकी पुष्टि हो, वही उसका अन्न कहाता है। उद्भिद् जीवोंकी पुष्टि जलके द्वारा होती है यह तो प्रत्यक्ष

उद्भिद्यन्नमयविकाशः ॥ ७५ ॥
तस्य जलमन्नम् ॥ ७६ ॥

सिद्ध ही है। अतः उद्भिज्जोंका अन्न जलतत्त्व है इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि, पार्थिव स्थूल शरीरसे जलका ही निकट सम्बन्ध है। अर्थात्, पृथिवी-तत्त्वसे दूसरा तत्त्व जलतत्त्व है। अब यह शंका हो सकती है कि जब पार्थिव स्थूल शरीर सब श्रेणीके जीवोंका ही होता है तो उन सबोंके लिये जल अन्न क्यों नहीं है? इस शंकाका समाधान यह है कि मनुष्यादिके लिये प्राणरक्षार्थ जल कुछ सहायता अवश्य देता है जैसा कि वृक्षादिकी पुष्टिमें खाद, मिट्टी आदि सहायता देते हैं; परन्तु जिस प्रकार मनुष्यके लिये अन्य खाद्य पदार्थ दुग्ध, शस्य आदि प्राण रक्षामें प्रधानता रखते हैं, उसी प्रकार उद्भिज्जयोनियोंके लिये जलकी प्रधानता है। मनुष्यमें पंचकोषके विकशित होनेसे पूर्णत्व आ जानेके कारण मनुष्य-उपयोगी अन्नका प्रभाव मनुष्यके विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोष तक पहुंचता है; इसी कारण अन्नसे मनुष्यका अन्तःकरण तक पुष्ट होता है, यह शास्त्र-सिद्ध है। इसी प्रकार अन्ययोनियोंमें भी अन्य कोषोंके विकाशके कारण जलसे अतिरिक्त विभिन्न प्रकारके अन्न से पुष्टि होती है। उद्भिज्जयोनिमें केवल अन्नमय कोषकी ही पुष्टिकी आवश्यकता होनेसे केवल जलके द्वारा अन्नका कार्य्य सिद्ध होता है ॥ ७६ ॥

और भी कह रहे हैं:—

एक शरीरसे अन्य शरीर उत्पन्न होता है ॥ ७७ ॥

पूर्व्व विज्ञानकी पुष्टिके लिये यह कहा जा रहा है कि, केवल अन्नमय कोषका विकाश होनेका एक बड़ा प्रमाण यह है कि, उद्भिद्-श्रेणीके अनेक जीवोंके एक शरीरसे अनेक शरीर उत्पन्न होते हैं। ऐसा देखनेमें आता है कि, अनेक ऐसी वृक्षलता आदि हैं कि, जिनकी डंगाली काटकर लगानेसे अथवा जरौन्धा लगानेसे अथवा चश्मा आदि लगानेसे दूसरा वृक्ष उसी जातिका बन जाता है ॥ ७७ ॥

इसका कारण कहते हैं:—

उस कोषमें आत्माके व्यापक होनेसे ॥ ७८ ॥

एकस्मादन्यत् ॥ ७७ ॥

तत्र व्यापकत्वादात्मनः ॥ ७८ ॥

उद्भिज्जयोनिकी विशेषता यह है कि, उस योनिमें केवल अन्नमय कोषका विकाश होता है, इस कारण प्रत्येक उद्भिज्जयोनिकी आत्मा उसके स्थूलशरीरव्यापी रहती है; इसी कारण उद्भिज्जके एक शरीरसे अनेक उद्भिज्जशरीर बन कर उस श्रेणीके पृथक् पृथक् जीव बन सकते हैं जैसा कि पहले सूत्रमें कहा गया है। मनुष्य आदिका वैसा नहीं होता है। पञ्चकोषमें छिपे हुए जीवका रहस्य यह है कि परमात्माकी निर्लिप्त चित्सत्ता सर्वव्यापक है क्योंकि सच्चिदानन्दमय ब्रह्म सर्वव्यापक और पूर्ण हैं। केवल पञ्चकोषात्मक जीव देहोपाधि द्वारा मठाकाशमें घटाकाशवत् प्रतीत होता है। उस निर्लिप्तसत्ताके प्रतिबिम्बको धारण करने वाला जीवका अन्तःकरण है। अन्य जीवोंमें अन्यकोषोंके विकाशके कारण अन्तःकरण की व्यापकता अहंतत्त्वके विकाशके साथ ही साथ संकोच भावको धारण करती है, परन्तु उद्भिज्जयोनिमें केवल अन्नमयकोषका विकाश रहनेसे अन्तःकरण भी स्थूल शरीरमें व्यापक रहता है। इस कारण उस स्थूल शरीरका अंश मूल अंशसे अलग होकर प्राणरक्षाके उपयोगी आधार प्राप्त करते ही उसमें स्वतन्त्रजीवत्वकी उत्पत्ति तत् तत् जीवरक्षक देवताओंकी सहायतासे हो जाती है। दैवीमीमांसादर्शनका यह सिद्धान्त है कि मनुष्यसे इतर जितने उद्भिज्ज स्वेदजादि श्रेणीके जीवसमूह हैं, उन सबके रक्षक पृथक् पृथक् देवता हैं। स्वाभाविक संस्कारमूलक प्राकृतिकक्रियाके द्वारा जिस प्रकार प्रथम चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होती है, उसी स्वाभाविक क्रमसे इस प्रथम अभिव्यक्तिमें एक जीवसे अनेक जीवका बनना भी विज्ञानसिद्ध है ॥ ७८ ॥

शङ्कासमाधानसे विज्ञानकी पुष्टि की जारही है:—

उसी प्रकार योगियोंमें देखा जाता है ॥ ७९ ॥

यदि जिज्ञासुके चित्तमें इस प्रकारकी शङ्का हो कि, जब प्रत्येक जीवकेन्द्रमें पृथक् पृथक् आत्माकी स्थिति कही जाती है, तो पुनः एक जीवसे अनेक जीवकी उत्पत्ति कैसे सम्भव है? दूसरी ओर जब देखते हैं कि, अनेक वृक्षोंके कलम आदि द्वारा उसी जातिके अनेक वृक्ष नये बन जाते हैं तो, ऐसा होना प्रत्यक्ष सिद्ध है, इसका

तथा दृश्यते योगिषु ॥ ७९ ॥

समाधान क्या हो सकता है? क्या और भी ऐसा चमत्कारका प्रमाण मिलता है? इस श्रेणीकी सब प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षिसूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। योगदर्शन शास्त्रमें यह सिद्ध किया गया है कि, योगी जब समाधिकी पूर्णसिद्धि लाभ करके अपने अन्तःकरणको वशीभूत और अपनी अस्मितापर आधिपत्यलाभ कर लेते हैं, तब वे अपने एक शरीरसे अनेक शरीर बनाकर अदृष्ट कर्मोंका भोग कर सकते हैं। योगीके लिये ऐसे अलौकिक कार्य्य करते समय उसको अपने अन्तःकरणको पूर्णरूपसे स्वसंकल्पाधीन करना पड़ता है और जीवत्वकी मूल कारण अस्मितापर आधिपत्य करना पड़ता है। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीरके अधीन है, इस कारण देवता तथा उपदेवता प्रेतादि जैसा चाहें वैसा शरीर धारण कर सकते हैं। उस समय उस दैवीशक्तिसम्पन्न जीवके अन्तःकरणके संकल्पके बलसे नानाप्रकारके शरीर बन जाते हैं। योगीकी शक्ति और भी विचित्र है। योगी अपने सूक्ष्मशरीर तथा अन्तःकरणका पूर्ण अधिकारी बन जानेसे अपने चिदाकाशमें लगे हुए संस्कारराशिको जितने चाहे उतने भागोंमें विभक्त करके उतने ही जीव शरीर बना लेते हैं और अस्मितापर आधिपत्य होनेसे उतने ही जीवत्वकेन्द्ररूपी स्वतन्त्र स्वतन्त्र अन्तःकरण स्थापन कर लेते हैं। ब्रह्मकी चित्सत्ता सर्वव्यापक होनेसे सब नवीन अन्तःकरणोंमें स्वतन्त्र स्वतन्त्र चिज्जड़ग्रन्थिरूपी जीवकेन्द्र स्वतः ही बन जाता है। इस प्रकारसे एक योगी अपनी योगशक्तिद्वारा अनेक जीवोंकी सृष्टि कर सकते हैं। योगिराज अपने अन्तःकरणके स्वामी होनेके कारण जैसा चाहे वैसा जीवशरीर बना सकते हैं। यही योगीकी विचित्रता है। पूर्व कथित उद्भिज्जोंमें यह अलौकिकता और ऐसी शक्ति नहीं है, परन्तु उनकी अस्मिता और अन्तःकरण उनके स्थूल शरीरमें ओतप्रोत रहते हैं; क्योंकि उद्भिज्जोंमें केवल अन्नमयकोषरूपी स्थूलशरीरका विकाश रहता है तथा अन्यकोष और शरीर उसीमें गौणरूपसे ओतप्रोत रहते हैं। इस कारण जब उनके शरीरका कोई अंश काटकर मिट्टीमें गाड़कर उसमें जल सिञ्चन किया जाता है, तो वहां रहे हुए अन्तःकरणव्यापी स्थूलशरीरमें व्यापक चिदाकाशकी सहायतासे दूसरा

चिज्जड़ग्रन्थिमय जीवकेन्द्र बन जाता है। यही इस विज्ञानका रहस्य है ॥ ७६ ॥

स्वेदजमें कितने कोषोंका विकाश होता है, सो कहा जाता है:—

स्वेदजमें दो कोषोंका विकाश होता है ॥ ८० ॥

जीव उद्भिद्योनिकी नानाश्रेणियोंमें क्रमशः एक दूसरेमें होकर अग्रसर होता हुआ अन्तमें स्वेदजयोनियोंमें पहुँच जाता है। उस समय क्रमाभिव्यक्तिकी सहायतासे उसमें प्राणमय कोषका और विकाश हो जाता है। उद्भिज्जदशामें उसमें केवल अन्नमय कोषका विकाश था, अब इस योनिमें उसमें अन्नमय और प्राणमय इन दोनों कोषोंका विकाश हो जाता है। यही कारण है कि, उसका स्थावरत्व दूर होकर जंगमत्वकी प्राप्ति हो जाती है। यही कारण है कि, स्वेदजयोनिके जीव हिलने फिरने लगते हैं ॥ ८० ॥

उसकी विशेषता कही जाती है:—

इस कारण दो प्रकारका दिखायी देता है ॥ ८१ ॥

स्थावरत्वसे जङ्गमत्वकी प्राप्ति होनेके कारण स्वेदज जीवोंमें बहुतसे जीव ऐसे भी दिखायी देते हैं कि, उनका आधा शरीर उद्भिज्जकी न्याईं स्थावरत्वप्राप्त और आधा शरीर जङ्गमत्वप्राप्त क्रियाशील होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जब प्राणमय कोषका विकाश हो जाता है, तो प्रथम अवस्थाके स्वेदजयोनिके जीव उभयस्वरूपके होते हैं और क्रमशः प्राणक्रिया उनमें बढ़ जानेसे क्रमाभिव्यक्तिके साथ साथ पूर्ण जङ्गमत्व आ जाता है ॥ ८१ ॥

उसके स्वरूपकी पूर्णता दिखानेके अर्थ उसका अधिकार वर्णन कर रहे हैं:—

प्राणशक्तिविशिष्ट होनेसे उसका ब्रह्माण्ड और पिण्डपर अधिकार है ॥ ८२ ॥

उद्भिज्ज योनिका सम्बन्ध मृत्तिकाके साथ अधिक होनेसे और उसमें स्थावरत्व होनेसे सब स्थानोंमें उसकी स्थिति नहीं हो

स्वेदजे विकाश उभयोः ॥ ८० ॥
तस्माद्दृश्यते द्विविधम् ॥ ८१ ॥
ब्रह्माण्डपिण्डयोरधिकारः प्राणशक्तिमत्त्वात् ॥ ८२ ॥

सकती है, परन्तु स्वेदज योनिमें प्राणमय कोषका विकाश हो जानेसे उस योनिके जीवोंकी गति और स्थिति अन्य जीवशरीरके भीतर बाहर तथा पृथिवीमें और आकाशमें अर्थात् पिण्ड और ब्रह्माण्ड सर्वत्र दिखायी देती है । मनुष्य आदि जीवोंके शरीरोंमें रहकर वे स्वास्थ्यकी रक्षा करते हैं; उनकी कोई जाति पीड़ा उत्पन्न करती है और कोई जाति आरोग्य प्रदान करती है । उसी प्रकार उनकी कोई जाति पृथिवी, जल, आकाशादिमें रहकर देशव्यापी मारीभय उत्पन्न करती है और कोई जाति पुनः प्रकट होकर उक्त मारीभयकारी स्वेदजोंका नाश करके जगत्में स्वास्थ्य और शान्ति विधान करती है । यह स्वेदज जीवोंकी अलौकिकता है ॥ ८२ ॥

अण्डज योनिमें कितने कोषोंका विकाश होता है, सो कहा जाता है:—

अण्डजमें तीन कोषोंका विकाश होता है ॥ ८३ ॥

स्वाभाविक संस्कारके बलसे क्रमाभिव्यक्तिकी सहायताद्वारा जब जीव आगे बढ़कर अण्डज योनिकी श्रेणियोंमें पहुंच जाता है, तब मनोमय कोषका विकाश हो जानेसे उनमें तीन कोषोंका विकाश हो जाता है । उन तीनों कोषोंका लक्षण तो स्पष्ट ही दिखायी देता है ॥ ८३ ॥

इसका प्रमाण दे रहे हैं:—

इस कारण मनकी उपलब्धि होती है ॥ ८४ ॥

अण्डजश्रेणीके जीवोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय, इन तीनों कोषोंका विकाश होनेके कारण उक्त श्रेणीके जीवोंमें मनके कार्य्यकारी होनेका प्रत्यक्ष लक्षण विद्यमान रहता है । जिस प्रकार उद्भिज्ज श्रेणीके जीवोंमें पांचों कोष बन जानेपर भी केवल अन्नमय कोषका ही विकाश रहता है और उसीके प्रबल लक्षण दिखायी देते हैं, जिस प्रकार स्वेदजश्रेणीके जीवोंमें स्थूल अन्नमय कोषके अतिरिक्त प्राणमय कोषके विकाशके स्पष्ट लक्षण दिखायी देते हैं, जैसा पहले कहा गया है, उसी प्रकार अण्डजश्रेणीके जीवोंमें

कोषत्रयविकाशोऽण्डजे ॥ ८३ ॥
तस्मादुपलभ्यते मनः ॥ ८४ ॥

पांचों कोषोंका अस्तित्व रहनेपर भी प्रथम तीन कोषोंका विकाश रहता है और इसीसे उनमें मनोमय कोषकी अभिव्यक्ति हो जानेसे उस कोषके विकसित होनेके स्पष्ट लक्षण प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार स्वेदज श्रेणीके जीव अपनी अपनी प्रकृतिके अधीन होकर अति अलौकिक प्राणक्रियासमूह प्रकाशित करते हैं, जैसा कि पहले कहा गया है, उसी प्रकार अण्डजश्रेणीके जीव मानसिक क्रियाका असाधारण परिचय दिया करते हैं। चक्रवाककी प्रेमवृत्ति, सर्पजाति-की खलता और प्रतिहिंसाप्रवृत्ति, कपोतकी अपने वासस्थानकी आसक्ति, इत्यादि मनोधर्मकी अभिव्यक्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं ॥८४॥

अब जरायुज योनिमें कितने कोषोंका विकाश होता है, सो कहा जाता है:—

जरायुजमें चार कोषोंका विकाश होता है ॥८५॥

सहजात अद्वितीय स्वाभाविकसंस्कारके बलसे क्रमशः क्रमाभिव्यक्तिको प्राप्त करता हुआ अण्डज श्रेणीकी कोटिसे जब जीव जरायुजश्रेणीमें पहुँच जाता है, तो उसमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चारों कोषोंका विकाश हो जाता है ॥८५॥

प्रमाण दे रहे हैं:—

उसमें बुद्धिका स्वल्प विकाश होता है ॥ ८६ ॥

जिस प्रकार अण्डजश्रेणीके जीवोंमें मनोधर्मके प्रकट होनेसे उनमें तीन कोषोंके विकाशका प्रमाण पाया जाता है, उसी प्रकार जरायुजश्रेणीके जीवोंमें बुद्धिके लक्षण पाये जानेसे उनमें चारों कोषोंका विकाश है, यह मानना पड़ता है। अश्व, हस्ती आदि जरायुज पशुओंमें बुद्धिका लक्षण किस प्रकार स्पष्टरूपसे प्रतिभासित होता है, उसके विषयमें अधिक विवृतिकी आवश्यकता नहीं है ॥८६॥

अब पूर्णावयव मनुष्ययोनिका वर्णन किया जाता है:—

मनुष्यमें पांच कोषोंका विकाश हास्यलक्षण है ॥ ८७ ॥

चतुष्कोषविकाशो जरायुजे ॥ ८५ ॥

तत्राल्पविकाशो बुद्धेः ॥ ८६ ॥

हास्यलक्षणः पञ्चकोषविकाशो मानवे ॥ ८७ ॥

दैवराज्यके चालक देवतागण क्रमशः जीवको एक योनिसे दूसरी योनिमें स्वाभाविक संस्कारसे पराधीन दशामें आगे बढ़ाते हुए मनुष्ययोनि तक पहुंचा देते हैं। मनुष्ययोनिमें पहुंचकर जीव पंचकोषकी पूर्णताको प्राप्त करके स्वाधीन हो जाता है। मनुष्ययोनिमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचो कोषोंका विकाश हो जाता है। आनन्दका लक्षण हास्य है। यह लक्षण केवल मनुष्ययोनिमें ही प्रकट होता है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि, आनन्दमय कोषतकका विकाश मनुष्ययोनिमें होता है। मनुष्यसे इतर प्राणियोंमें आनन्दका अनुभव अवश्य होता है और वे आनन्दका लक्षण भी प्रकाशित करते हैं, यथा—दुम हिलाना कूदना आदि; परन्तु मनुष्यसे इतर किसी प्राणिमें हास्यका लक्षण नहीं प्रकाशित होता है॥ ८७॥

प्रसङ्गसे आनन्दमय कोषकी पूर्णताका रहस्य कह रहे हैं:—

आनन्दमय कोषकी कलाकी पूर्णता चन्द्रवत् होती है॥८८॥

मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें जीव पराधीनदशामें स्वतः ही आगे बढ़कर मनुष्ययोनिमें कैसे पहुँचता है, इसका विस्तारित वर्णन पहले किया गया है। अन्तिम आनन्दमय कोषकी अभिव्यक्ति इस योनिमें स्वतः हो जाती है, परन्तु आनन्दमय कोषके साथ आत्माका साक्षात् सम्बन्ध रहनेके कारण उस कोषका सम्यक् विकाश क्रमशः जन्म जन्मान्तरमें कलाविकाशकी सहायतासे चन्द्रके समान होता है। जैसे चन्द्रमा प्रतिपदासे क्रमशः चलकर पूर्णिमाके दिन पूर्णकलाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जीव मनुष्ययोनिमें शुभ जैवसंस्कारोंकी सहायतासे उत्तरोत्तर आध्यात्मिक भूमिमें अग्रसर होता हुआ जन्म जन्मान्तरमें आनन्दमय कोषको क्रमशः शुद्ध करता हुआ आनन्दकलाकी वृद्धि करके मुक्तिपदकी ओर अग्रसर होता है॥ ८८॥

उसका अन्तिम फल कह रहे हैं—

कला विकाशसे कैवल्य होता है॥ ८९॥

आनन्दमयस्य पूर्णकलौपयिकत्वं चन्द्रवत्॥ ८८॥
कलाविकाशतः कैवल्यम्॥ ८९॥

जीवका आनन्दमय कोष जितनी पूर्णताको प्राप्त होता है, उतना ही वह खिलता जाता है। जितना वह खिलता जाता है, उतनी ही उसमें ब्रह्मानन्दकी सत्ता प्रकट होती जाती है और ब्रह्मानन्दकी पूर्णसत्ताका अनुभव ही मुक्ति है। जीवमें क्रमशः पूर्वकथित संस्कार-शुद्धिकी सहायतासे जितनी जितनी चिद्‌विलासरूपी ज्ञानकी अभि-वृद्धि होती है, उतना ही वह अधिकसे अधिक ब्रह्मानन्द अनुभव करता है। यदि विषयानन्दके अनुभवका ही उदाहरण समझा जाय, तो यह मानना ही पड़ेगा कि, एक अज्ञानीसे अपेक्षाकृत ज्ञानीका विषयानन्दका अनुभव कुछ विलक्षण होगा। इसी प्रकार ज्ञानवृद्धिके साथ साथ विषयानुभवकी विलक्षणता होती जायगी। अस्तु, अद्वितीय स्वाभाविक संस्कारके क्रमविकाशके साथ ही साथ आन-न्दमय कोष पूर्णताको प्राप्त होगा और आनंदमय कोष पूर्णताको प्राप्त हो विकसित होजानेपर सच्चिदानन्दमय स्वस्वरूपकी उपलब्धि कर जीव मुक्त हो जायगा ॥८९॥

क्रमविकाशका भेद कहा जाता है:—

गुणसम्बन्धसे उसका विकाश द्विविध होता है ॥९०॥

सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंमेंसे रजोगुण केवल चालक है। जब वह सत्त्वगुणकी ओर झुकता है, तब सात्त्विक क्रिया होती है और जब वह तमोगुणकी ओर झुकता है, तब तामसिक क्रिया होती है। इसी कारण जीवदेहमें मुक्तिप्रदायी सहज और स्वाभा-विक संस्कारकी गति भी दो प्रकारसे प्रवाहित होती है, अर्थात् उस संस्कारका विकाश एक ओर सत्त्वगुणमूलक है और एक ओर तमोगुणमूलक है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, मुक्तिप्रदायी संस्कार जीवकी सात्त्विकदशा और तामसिक दशा दोनोंमें सहायक बनकर जीवको कैवल्यकी ओर आगे बढ़ाता रहता है ॥९०॥

इस विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं:—

परस्पर द्वन्द्वता है ॥९१॥

द्विविधस्तद्विकाशो गुणाश्रयत्वात् ॥ ९० ॥
मिथो द्वन्द्वता ॥ ९१ ॥

स्थूल और सूक्ष्म यावत्-सृष्टि द्वन्द्वमूलिका है। यथा-बहिर्जगत्में दिन और रात, अन्तर्जगत्में राग और द्वेष, इस प्रकार प्राकृतिक यावत्पदार्थ द्वन्द्वमूलक होनेसे दोनोंका प्रयोजन भी सिद्ध होता है। यदि रात न हो, तो दिनकी उपयोगिता प्रतीत न हो, इसी प्रकार यदि दिन न हो, तो रात्रिकी उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है। इसी विज्ञानके अनुसार सृष्टिके यावत्-पदार्थका द्वन्द्व-मूलक होना और उसीके अनुसार गुणमूलक संस्कार भी दो भागोंमें विभक्त होना स्वतः सिद्ध है। इन दोनोंका परस्पर अपेक्षित तथा प्रकारान्तरसे साहचर्य्य होना भी सिद्ध होता है। वस्तुतः ये दोनों परस्पर सहायक होकर प्राकृतिक गुणपरिणाम द्वारा जीवकें अभ्युदयके लिये कार्य्यकारी होते हैं ॥६१॥

पुनः विभाग बतला रहे हैं:—

त्रिभावके अनुसार त्रिविध है ॥६२॥

जिस प्रकार गुणके अनुसार उसके दो विभाग होते हैं, उसी प्रकार भावके अनुसार वह त्रिविध होता है। भावके तीन भेद हैं, यथा-अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत। प्रकृतिके अवलम्बनसे जिस प्रकार गुणका परिणाम होता है, आत्माके अवलम्बनसे उसी प्रकार त्रिभावात्मक तीन अवस्थाएँ प्रकट होती हैं। वे भी संस्कारजन्य होती हैं, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि संस्कार कर्मका बीज है और विना संस्कारके मूलमें रहे कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार विना बीजवपनके वृक्षकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार संस्कारके विना किसी क्रियाका अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। अतः गुणके आश्रयसे जिस प्रकार दो भेद हैं, उसी प्रकार भावके आश्रयसे तीन भेद होते हैं।

विकाशमूलक संस्कार गुणसम्बन्धसे दो प्रकारके होते हैं और भावसम्बन्धसे तीन प्रकारके होते हैं। इनके स्वरूपके समझानेके लिये इतना कहना उचित है कि, स्वाभाविक संस्कार जो एक और अद्वितीय है, उसके विकाशके ही ये कारणरूप हैं। अस्वाभाविक संस्कारमें और स्वाभाविक संस्कारमें मौलिक भेद यह है कि अस्वाभाविक संस्कार जीवके संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण

त्रिभावत्त्रैविध्यम् ॥ ६२ ॥

वह प्रकृतिकी स्वाभाविक गतिको रोक देता है, अथवा जटिल कर देता है। स्वाभाविक संस्कारसे प्रकृतिके प्रवाहकी गति अधिक सरल बनी रहती है; इसी कारण स्वाभाविक संस्कारके बलसे जीव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ जैसा उद्भिज्जयोनिसे मनुष्ययोनि तक पहुंचा था, वैसे ही अग्रसर होता हुआ मुक्तिभूमिमें पहुंच जाता है। ये सब अद्वितीय स्वाभाविक संस्कारमूलक पूर्व कथित अवस्थाके भेदमात्र हैं। पूर्णावयव मनुष्ययोनिके जीवमें दोनों के अनुसार क्रिया होती रहती है और जीवन्मुक्त दशामें केवल स्वाभाविकसंस्कार ही कार्य्यकारी रह जाते हैं। उदाहरणकी रीतिपर समझ सकते हैं कि, मनुष्ययोनिमें जाति, आयु, भोग आदि अस्वाभाविक संस्कारके बलसे उत्पन्न होते हैं और वैदिक षोड़श-संस्कार-यज्ञ स्वाभाविक संस्कारकी गतिको प्रकट करते हैं, जैसा कि पहले सिद्ध किया गया है। वही मुक्तिप्रद स्वाभाविक संस्कार इस प्रकारसे गुण और भावकी सहायतासे प्रकट होकर मनुष्यके मुक्तिपथको बाधा रहित और सरल कर देता है ॥६२॥

तीनोंका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिये कहा जाता है:—

तीनोंमें विलक्षणता है ॥६३॥

इन तीनोंके स्वरूपमें कुछ और ही विलक्षणता है, क्योंकि एक ज्ञानमूलक है, एक कर्ममूलक है और तीसरा स्थूल-शरीर-मूलक है। स्वाभाविक संस्कारके अनुकूल जो आध्यात्मिक परिणाम प्रकट होता है, वह सर्व भूतोंमें ऐक्य रखनेवाला तथा मुक्तिके अनुकूल होनेसे ज्ञानमूलक होता है। उसी प्रकार आधिदैविक जो परिणाम प्रकट होता है, उससे क्रमशः कर्त्तव्य–परायणता तथा सकामराहित्य अधिकार मिलता जाता है और उसी प्रकार जो आधिभौतिक परिणाम प्रकट होता है, उससे मलराहित्य और सत्त्वगुणवर्द्धिका अवस्था मिलती जाती है। सुतरां इन तीनोंमेंसे एक ज्ञानमूलिका, दूसरी कर्ममूलिका और तीसरी स्थूलशरीरमूलिका अवस्था होनेसे तीनोंका परस्परमें बहुत ही विलक्षणत्व रहता है ॥ ६३ ॥

त्रिषु वैलक्षण्यम् ॥ ६३ ॥

इन दोनोंके आकर्षणका उपकरण बताया जाता है:—

रजोवीर्यके द्वारा दोनों आते हैं ॥ ६४ ॥

माता-पिताके रजोवीर्य्यकी सहायतासे ये दोनों श्रेणीके संस्कार यथायोग्य आकर्षित होते हैं। शरीरके सात धातुओंमेंसे वीर्य्य सप्तम और श्रेष्ठ धातु है। पुरुषमें ये सात ही रहते हैं, परन्तु स्त्रियोंमें उसका कुछ रूपान्तर हो जाता है इस कारण स्त्रीमें सप्तम धातुके दो भेद हो जाते हैं। वही दूसरा भेद रज है। इसी कारण आयुर्वेदके आचार्योंने स्त्रीमें आठ धातु माने हैं। मनुष्यका भोगायतन तथा कर्म करनेका सहायकरूपी स्थूलशरीर माता पिताके रजोवीर्य्यके उपादानसे पितरोंकी सहायतासे बनता है और योगशास्त्रका सिद्धान्त है कि मन, वायु और वीर्य्य रूपान्तरसे तीनों एक ही हैं इस कारण अन्तःकरणके साथ वीर्य्यका साक्षात् सम्बन्ध रहनेसे और पुरुष तथा स्त्रीके लिये यथाक्रम वीर्य्य और रज, सब धातुओंका साररूप होनेसे पूर्व्व कथित दोनों तरहके संस्कार स्वतः ही जीवके शरीरमें रजोवीर्य्यके द्वारा आकृष्ट होते हैं। गुणका आधाररूप स्थूलशरीर होनेसे और भावका आधार-रूप अन्तःकरण होनेसे पिता माताके गर्भाधान-कालीन शरीर तथा अन्तःकरणकी स्थितिकी सहायतासे सन्तानमें वे संस्कारसमूह आकृष्ट हो जाते हैं।

अस्वाभाविक संस्कारमें स्वाभाविक संस्कारका समावेश कैसे हो सकता है, इस विषयमें नाना प्रकारकी शंकाएँ होती हैं, उनके समाधानके लिये कहा जाता है। बन्धन तथा आवागमनचक्रका कारण अस्वाभाविक संस्कार है और मुक्तिका कारण स्वाभाविक संस्कार है, यह पहले ही कहा गया है तथा वैदिक संस्कार-यज्ञोंको स्वाभाविक संस्कारका पोषक कहा गया है और अब यह सिद्ध किया गया है कि, गुण और भाव सम्बन्धीय संस्कारसमूह भी स्वाभाविक संस्कारके ही अङ्ग हैं। दूसरी ओर स्वाभाविक संस्कार एक और अद्वितीय तथा अस्वाभाविक संस्कार अनन्त हैं, यह भी सिद्ध हो चुका है। स्वाभाविक संस्कार एक और

रजोवीर्य्याभ्यामुभयाकृष्टिः ॥ ६४ ॥

अद्वितीय होनेके कारण उसकी गति और स्थिति जीवकी उत्पत्तिसे लेकर जीवकी मुक्ति-पर्य्यन्त रहती है, यह मानना ही पड़ेगा। स्वाभाविक संस्कार चिज्जड़ग्रन्थिकी उत्पत्तिके साथ ही साथ उत्पन्न होता है। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुजकी चौरासीलक्ष योनियोंमें उसकी अद्वैतरूपसे स्थिति रहती है तथा उसकी गति अप्रतिहत होती है और पुनः उसका पूर्ण विकाश जीवन्मुक्त दशामें हो जाता है। दूसरी ओर अस्वाभाविक संस्कारकी उत्पत्ति जीवके मनुष्ययोनिमें पहुंचनेके साथ ही साथ होती है और वह संस्कार अनन्तरूपमें परिणत होकर जीवको सुखदुःखमय आवागमनचक्रमें निरन्तर घुमाया करता है और मुक्त होने नहीं देता है। मनुष्ययोनिमें दोनोंका पार्थक्य इतना ही है कि, बन्धन दशामें अस्वाभाविक संस्कारकी मुख्यता और स्वाभाविक संस्कारकी गौणता रहती है और जीवन्मुक्त दशामें स्वाभाविक संस्कारकी मुख्यता और अस्वाभाविक संस्कारकी गौणता हो जाती है। सुखदुःखमय शुभाशुभ भोग भोगते समय अथवा नाना लोकोंमें परिभ्रमण करते समय जो भोगवैचित्र्य है, वह अनन्तरूपमय अस्वाभाविक संस्कारका कार्य्य है और इस आवागमनचक्रकी गतिमें जो ऊर्द्ध्वगामी प्रवाहरूपी क्रियाका कारण है, वह स्वाभाविक संस्कारकी शक्ति है। इसी कारण जीवन्मुक्तदशामें महापुरुष अस्वाभाविक संस्कारोंसे उत्पन्न फलोंको भोगते हैं और स्वाभाविक संस्कारके अधीन रहकर सुखदुःखमें समान ज्ञान करते समय अपने अन्तःकरणकी धाराको ब्रह्मानन्दमय ब्रह्मसमुद्रमें लय करनेमें समर्थ होते हैं।

पुनः शंका हो सकती है कि, रजोवीर्य्यके द्वारा ही उभयका आकर्षण क्यों माना जाता है? रज और वीर्य्य अन्य धातुओंका सार होनेसे जीवके स्थूल शरीरका बीजभूत उपादान हो सकता है, परन्तु भाव और गुणमूलक स्वाभाविक संस्कारके आकर्षणका कारण कैसे माना जा सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान सुगमही है। चिज्जड़ग्रन्थिरूपी प्रथम जीवोत्पत्ति दशामें स्वाभाविक संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्काररूपी कारणका कार्य्य यह है कि, जीवको उत्तरोत्तर उन्नतभूमि प्रदान करके अभ्युदय देकर निःश्रेयस मार्गमें अग्रसर करता रहे और नीचेकी ओर गिरने न दे। उदाहरण स्थलपर समझने योग्य है कि, जीव जब आम्रकी

योनिसे पीपलकी योनिमें जाता है, अथवा जीव जब हस्ती आदिकी योनिसे गोयोनिमें जाता है, तब यह जीवकी क्रमोन्नति उक्त उन्नतयोनियोंके स्थूल शरीरकी सहायतासे ही होती है। स्थूलशरीर वस्तुतः केवल भोगायतन ही नहीं है, किन्तु क्रमोन्नति करनेका एकमात्र अवलम्बनीय क्षेत्र है। अतः मनुष्य जब एक शरीरसे दूसरा मनुष्यशरीर परिग्रह करता है, तब ही वह क्रमोन्नतिका क्षेत्र प्राप्त कर सकता है। सुतरां स्थूल शरीर जब एकमात्र मुक्तिकी ओर क्रमोन्नतिका क्षेत्ररूप है, तो उसमें ही स्वाभाविक संस्कारके अङ्गीभूत उक्त दोनों संस्कारोंका आकर्षण सम्भव है॥९४॥

प्रसंगसे वर्णधर्मकी उपयोगिता सिद्ध कर रहे हैंः—

इसी कारण वर्णधर्म बलवान् है ॥ ९५ ॥

वर्णधर्ममें रजोवीर्य्य-शुद्धिका विचार सबसे प्रधान रक्खा गया है, यह पहले ही सिद्ध हो चुका है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि, वर्णाश्रमधर्म जिस मनुष्यजातिमें है, वह मनुष्यजाति कालके कवलमें प्रवेश नहीं करती है तथा उसके नियमोंको माननेपर अधःपतन न होकर क्रमोन्नति अवश्य होती है। उस विज्ञानकी पुनः पुष्टिके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, रज और वीर्य्यके द्वारा उक्त मुक्तिप्रद स्वाभाविक संस्कारके गुणसम्बन्धीय और भाव-सम्बन्धीय अंगोंका आकर्षण होता है, यह सिद्ध हुआ तो, वर्णधर्म जिसमें रजोवीर्य्यकी शुद्धिका ही प्राधान्य है, वह परमावश्यकीय है और मनुष्यजातिके लिये इस धर्मका पालन अमृतस्वरूप है ॥ ९५ ॥

प्रसंगसे कहा जाता हैः—

प्रतिलोम-विवाह धर्मसङ्गत नहीं है ॥ ९६ ॥

स्मृतिशास्त्रमें आज्ञा है कि, रजोवीर्य्यकी शुद्धि यथावत् रखनेके लिये सवर्णविवाह सबसे श्रेष्ठ है। अनुलोमज विवाह कामज होनेपर भी धर्मसङ्गत हो सकता है, परन्तु प्रतिलोमज विवाह सर्वथा धर्मविरुद्ध है। स्मृतियोंमें इस प्रकारके प्रमाण अनेक हैं, यथा—

अतो बलीयस्त्वं वर्णस्य ॥ ९५ ॥

न प्रतिलोमविवाहो धर्मसम्बद्धः ॥ ९६ ॥

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ।

शूद्र, केवल शूद्राके साथ, वैश्य, शूद्रा और वैश्याके साथ, क्षत्रिय, शूद्रा वैश्या और क्षत्रियाके साथ और ब्राह्मण स्वजातीय अर्थात् ब्राह्मणी और इन तीनों, शूद्रा वैश्या और क्षत्रियाके साथ विवाह कर सकता है। यह अनुलोम विधि है। प्रतिलोमका प्रमाण स्मृतिशास्त्रमें यह है—

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः ।
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥
शूद्रादायोगवः क्षत्ता चण्डालश्चाधमो नृणाम् ।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः ॥

क्षत्रियसे ब्राह्मण कन्यामें उत्पन्न पुत्र सूत कहलाता है। वैश्यसे क्षत्रिय कन्यामें उत्पन्न मागध और ब्राह्मण कन्यामें उत्पन्न वैदेह नामक पुत्र होते हैं। शूद्रसे वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण कन्यामें उत्पन्न पुत्र क्रमशः आयोगव, क्षत्ता और चण्डाल होते हैं, अर्थात् वैश्यामें आयोगव, क्षत्रियामें क्षत्ता और ब्राह्मणीमें चण्डाल, ये सब वर्णसंकर कहलाते हैं।

वर्णधर्मकी पूर्णता रक्षा करनेके लिये यही कर्त्तव्य है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्णोंके पुरुष स्वकीय वर्णकी कन्याके साथ विवाह किया करें, तभी रजोवीर्य्यकी शुद्धि पूर्णरूपसे बनी रह सकती है और जीवकी क्रमोन्नतिके सम्बन्धसे मुक्तिका द्वार खुला रहता है, जैसा कि पहले कहा गया है। यदि मोक्षका विचार न रहे और मनुष्य काम और अर्थके वशीभूत हो जाय तो अनुलोमज रीतिपर निम्न वर्णकी कन्याका परिग्रहण करनेपर किसी प्रकारसे धर्मकी रक्षा हो सकती है, क्योंकि वीर्य्यके साथ रजकी समानता न होनेपर भी जिस प्रकार निकृष्ट क्षेत्रमें बीज पूर्णावयव होकरके अङ्कुरित न होनेपर भी अङ्कुरित होता है, उसी प्रकार सामान्यतः वीर्य्यकी शुद्धि रह सकती है परन्तु प्रतिलोमज विवाह होनेपर अर्थात् निम्न जातिका पुरुष यदि उच्च जातिकी कन्याका परिग्रहण

करे तो रज और वीर्य्य दोनों ही अशुद्ध हो जाते हैं। लौकिक उदाहरणसे इस विज्ञानकी सिद्धि सुगमतासे हो सकती है। जैसे जलसे भूमि बलवती होनेपर उसमें बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति ठीक होनेपर भी जलहीन भूमिमें अथवा अल्पजलकी भूमिमें बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति हो सकती है, परन्तु यदि अधिक जलमय भूमि हो तो उसमें बीज डालनेसे बीज सड़ जाता है। ठीक उसी प्रकार निम्न श्रेणीके रजमें बीजका अस्तित्व रह जानेपर भी प्रतिलोमज विवाहमें रज, वीर्य्य दोनोंकी अशुद्धि होकर सृष्टि नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। जो सृष्टिकी पवित्रताका नाशक तथा सृष्टिक्रमका विरोधी है वह अवश्य ही अधर्म कार्य्य है ॥ ९६ ॥

प्रसंगसे और भी कहा जारहा है:—

सपिण्डा, सगोत्रा और अधिक अवस्थावाली कन्यासे विवाह नहीं करना चाहिये ॥ ९७ ॥

इसी रजोवीर्य्य-शुद्धि-विज्ञानके अनुसार स्मृतिशास्त्रोंने आज्ञा दी है कि सपिण्डा कन्या, सगोत्रा कन्या और वयोज्येष्ठा कन्याके साथ विवाह करनेसे अधर्म होता है, यथा—स्मृतिशास्त्रमें—

> असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
> सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्म्मणि मैथुने ॥
> अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।
> अनन्यपूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम् ॥

जो कन्या माताकी सपिण्डा न हो और पिताकी सपिण्डा और सगोत्रा न हो वह कन्या द्विजातियोंके लिये विवाह करने योग्य है। पूर्ण ब्रह्मचारी पुरुष सुलक्षणवती और जो पहिले नहीं विवाही गई हो, अपनेसे कम उम्रवाली हो और असपिण्डा हो ऐसी सुन्दरी स्त्रीसे विवाह करे।

रजोवीर्य्यकी शुद्धि भूमि और बीजके उदाहरणसे समझने योग्य है, जैसा कि, पहले दिग्दर्शन कराया गया है। जिस

सपिण्डा सगोत्रा वयोज्येष्ठा च कन्या परिवर्ज्जनीया ॥ ९७ ॥

वैज्ञानिक कारणसे प्रतिलोमज विवाह निषिद्ध है, उसी कारणसे ये तीनों भी निषिद्ध हैं। इन तीनों अधर्मकार्य्योंके द्वारा वीर्य्य और रजकी शुद्धि नष्ट हो जाती है; इस कारण जैसे वर्णाश्रमधर्म भ्रष्ट होनेसे मनुष्यजाति कालके मुखमें पहुँच जाती है; उसी प्रकार इन तीनों अधर्मकार्य्योंके द्वारा कुल नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। सपिण्ड अर्थात् अपने कुलकी निकटस्थ कन्या अथवा अपने गोत्रकी कन्यासे विवाह करनेसे रज और वीर्य्यकी शक्ति क्रमशः नष्ट हो जाती है। सपिण्ड और सगोत्र एक ही भाव वाचक हैं, जब सगोत्रा कन्या निकटस्थ होती है, तभी वह सपिण्डा कहाती है— यथा–सपिण्डाके लक्षण स्मृतिशास्त्रमें कहे गये हैं—

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते।
लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
पिण्डदः सप्तमस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्॥

पितासे लेकर पितामह प्रपितामह ये तीन पिढ़ी तक पिण्डके भागी होते हैं, इससे आगे छः पिढ़ीतक लेपके भागी हैं। पिण्डको देनेवाली सातवीं पिढ़ी है, इन्हीं सात पुरुषोंमें सपिण्डता रहती है।

यदि पृथिवीके एक ही स्थानमें बहुतसा बीज वपन कर दिया जाय, तो न वह क्षेत्र काम देता है और न वह बीज काम देता है और दोनों ही अपवित्रताको प्राप्त करके सृष्टिके बाधक हो जाते हैं, उसी प्रकार एक ही कुलके स्त्रीगर्भमें यदि बार बार उसी कुलके पुरुषका बीज प्रदत्त हो, तो वह बीज और वह क्षेत्र दोनों अकर्मण्यताको प्राप्त करेंगे और वह वंश कालान्तरमें लय हो जायगा। दूसरी ओर विचारने योग्य विषय यह है कि, स्त्री आकर्षणशक्ति और पुरुष विकर्षण–शक्ति–विशिष्ट है, सुतरां दोनों विरुद्धभावापन्न हैं, यह माननाही पड़ेगा। अस्तु यदि दोनों शक्ति एक ही केन्द्रसे बारम्बार नियोजित हो तो, दोनों ही हीनबल हो जायंगे। इसमें अधिदैव कारण और भी विलक्षण है। अर्य्यमा आदि नित्य पितृगण वर्ण, कुल और आर्य्यत्वके रक्षक हैं, इन तीनोंमेंसे कुल मध्यवर्त्ती होनेसे उभय–सहायक है। उस

कुलका साक्षात् सम्बन्ध गोत्रसे रहता है। कुल पवित्र रहनेसे मनुष्यजातिमें आर्य्यत्व और आर्य्यजातिमें वर्णत्वकी पवित्रता बनी रहती है। इस कारण कुलकी पवित्रताकी रक्षा करना और उसकी धाराको स्थायी रखना पितरोंका मुख्य कर्तव्य है। जिस प्रकार जलकी धाराकी गति तभी स्थायी रह सकती है, जब भूमि-की स्थिति निम्नगामी हो और जलका भी आनुकूल्य हो। इस प्रकारसे जलके वेगकी विकर्षणशक्ति और निम्नभूमिकी आकर्षण-शक्ति दोनों मिलकर जलधाराको चिरस्थायी रख सकती हैं। उसी प्रकार पितृगण जब पुरुष और स्त्रीको स्वतन्त्र स्वतन्त्र गोत्रो-द्भव पाते हैं, तभी आधिभौतिक सम्बन्धयुक्त कुलके नियमित प्रवाहको स्थायी रख सकते हैं। पितृगणको अपने कर्त्तव्यके पालन-करनेमें विरुद्धगोत्र-सम्भूत दम्पती ही सहायक हो सकते हैं। दूसरी ओर वयोज्येष्ठा कन्या जो निषिद्ध मानी गयी है, उसका भी यही कारण है। आयुके साथ ही साथ आधिभौतिक बलकी भी परिपुष्टि होती है। क्षेत्र ही बीजका आश्रय होता है, इस कारण यदि क्षेत्रका बल बीजके बलके अधिकारसे प्रबल हो, तो स्त्रीधारा-का प्राबल्य हो जायगा, पुरुषधारा गौण हो जायगी और कालान्तर-में उस कुलमें पुरुषसृष्टिसे स्त्रीसृष्टि अधिक होने लगेगी। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, स्त्रीके पुरुषभावापन्न होनेपर भी सृष्टिकी यही दशा होती है, वयोज्येष्ठा कन्याका विवाह न करनेका विधान भी इसी विज्ञानसे सिद्ध होता है ॥ ६७ ॥

प्रसंगसे और भी कहा जाता हैः—

वर्णसङ्कर इष्ट नहीं है ॥ ६८ ॥

इसी पूर्वकथित रजोवीर्य्य-शुद्धिविज्ञानके अनुसार ही वर्ण-सङ्कर होना शुभ नहीं समझा जा सकता है, क्योंकि वर्णसङ्करमें तो रजोवीर्य्यकी शुद्धि रह ही नहीं सकती है। रजोवीर्य्य शुद्ध न रहनेसे पूर्वकथित गुणसम्बन्धी और भावसम्बन्धी मुक्तिप्रद स्वा-भाविक संस्कारका विकाश होना रुक जाता है। पितरोंकी सहा-यता नहीं मिलती, क्योंकि पितृगण रजोवीर्य्यकी शुद्धि रहनेसे,

वर्णसङ्करो नेष्टः ॥ ६८ ॥

कुलकी पवित्रता रहनेसे और संस्कारशुद्धि रहनेसे तब विशेषरूपसे कृपा कर सकते हैं। वर्णसङ्करत्वसे जो सृष्टि होती है, वह धर्मज सृष्टि न होनेके कारण भी अहितकर है। विशेषतः वर्णसङ्कर प्रजाका नैमित्तिक पितरोंके साथ एकवार ही सम्बन्ध छूट जाता है, यथा—गीतोपनिषद्में कहा है:—

> सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
> पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।
> दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
> उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

वर्णसङ्कर नरकका कारण है। पिण्ड और श्राद्धादि क्रियाके लुप्त होनेसे पितृलोगोंका पतन होता है। इन दोषोंसे वर्णसंकर प्रजाके द्वारा जातिधर्म, कुलधर्म आदि विनष्ट होते हैं।

वर्णधर्ममें संकरता दोष आ जानेसे कैसे अधर्म होता है, इसको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं। वर्णधर्मकी संकरताके स्वाभाविक तीन भेद हैं। एक अन्यजातिके साथ रजोवीर्य्यका संमिश्रण, दूसरा छोटा वर्ण वनना और तीसरा छोटे वर्णका उच्चवर्ण वननेका प्रयत्न। इन तीनोंमेंसे उच्च वर्णकी, नीच वर्णके आचार पालन करनेसे केवल आधिभौतिक क्षति होती है, सुतरां वह क्षति केवल व्यक्तिगत है। शूद्राचारी ब्राह्मणका पुत्र पुनः सच्चा ब्राह्मण हो सकता है; इस कारण इस आधिभौतिक अपवित्रतासे केवल एक ही पुरुषतक वर्णधर्मकी संकरता होती है। नीच वर्ण जब उच्च वर्ण बनना चाहता है, उससे आध्यात्मिक अपवित्रता होती है, क्योंकि नीच वर्णका मनुष्य अपनी उच्चाभिलाषाके उन्मादसे जब अपनेको अथवा अपने समाजको उच्च वर्णके आचारोंका पालन करके और कराके उच्च वर्णकी श्रेणीमें प्रवेश करता है, तो उससे अनेक दोष उत्पन्न होनेपर उस व्यक्तिगत आत्मा और जातिगत आत्माकी बड़ी भारी क्षति होती है, क्योंकि आध्यात्मिक क्षति सबसे गुरुतर क्षति है। शरीरकी क्षति धार्मिक विचारसे इतनी प्रबल क्षति नहीं समझी जाती है, परन्तु आत्माकी क्षति, बुद्धिकी क्षति तथा अन्तःकरणकी अवनति सबसे प्रबल क्षति समझी जाती है। दूसरा विचारने योग्य विषय यह

है कि आधिभौतिक क्षतिकी शक्ति एक ही पुरुष तक रहती है, परंतु इस आध्यात्मिक संकरताका प्रभाव तथा इस क्षतिका परिणाम उस व्यक्तिको और जातिको स्थायीरूपसे पातकी बना देता है तथा आध्यात्मिक उन्नतिका बाधक बन जाता है। सुतरां यह क्षति चिरस्थायी होती है, वस्तुतः आध्यात्मिक अपवित्रतासे न वे अपनी जातिमें रहते हैं और न उच्च जातिके अधिकारको प्राप्त कर सकते हैं और दूसरी ओर पितरोंकी सहायता उनको पूरी नहीं मिलती है इस कारण उनकी उन्नतिका मार्ग रुद्ध रहता है, वह वृथा उच्चाभिलाषी व्यक्ति वा मनुष्यसमाज अपने आचरणोंके द्वारा वर्णाश्रमी धर्मसमाजमें विप्लव उत्पन्न कर देता है। ऐसे धर्मविप्लवका कारण बनके वह व्यक्ति अथवा विशेष समाज स्वभावके विरुद्ध प्रबल आघातको प्राप्त होता है और अपनी अवनतिका कारण बनता है। तीसरी रजोवीर्य्यकी संकरतासे आधिभौतिक क्षति निश्चित है। पितरोंकी सहायता रजोवीर्य्यकी शुद्धतासे कैसे प्राप्त होती है, इसका विस्तारित वर्णन इस दर्शनशास्त्रमें आचुका है। सुतरां जब पितरोंकी कृपारूप दैवी सहायतासे संकर जाति वंचित हो जाती है, तो उसके वर्णधर्मकी रक्षाका पथ रुद्ध हो जाता है और वर्णाश्रम धर्मके सब उन्नत अधिकार प्राप्त करनेके लिये उस व्यक्तिका क्षेत्र असुविधाजनक हो जाता है ॥९८॥

विज्ञानकी और भी पुष्टि कर रहे हैं:—

वह धार्म्मिक नहीं होता है ॥ ९९ ॥

यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कि, वर्णसंकर प्रजा धार्मिक नहीं होती है, साधारणतः ऐसा जगत्में देखनेमें भी आता है। अब पूर्व विज्ञानकी पुष्टिके लिये महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। प्रथम तो पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार वर्णसंकर प्रजामें रजोवीर्य्यकी शुद्धि हो ही नहीं सकती, क्योंकि संकरसृष्टिमें यथायोग्य अधिकारका बीज और यथायोग्य अधिकारका क्षेत्र न होनेसे सृष्टिका विपर्य्यय होना स्वतः सिद्ध है। द्वितीयतः मुक्तिसहायक स्वाभाविक संस्कारके गुण और भावात्मक प्रवाहकी गति

स न धार्मिकः ॥ ९९ ॥

ठीक रहना सम्भव नहीं है और तृतीयतः कर्मका वीज संस्कार होनेसे संकरसृष्टिके होते समय अस्वाभाविक संस्कार भी दूषित हो जाता है, क्योंकि माता और पिता दोनोंमें अपनी अपनी जातिका अभिमान स्थायी रहनेसे वैसी अस्वाभाविक संस्कारकी भी परिशुद्धि नहीं रह सकती है; अतः संकर प्रजाके धार्मिक होनेकी सम्भावना नहीं है ॥ ९९ ॥

उसका कारण कह रहे हैं:—

अधर्ममें उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है ॥ १०० ॥

संस्कार कर्मका वीज है, जैसा संस्कार होता है वैसी ही क्रियाकी उत्पत्ति होती है। वर्णसंकर प्रजाके उत्पन्न होते समय उसके माता-पिताके अन्तःकरणमें सदाचारभ्रष्ट होनेके संस्कार अवश्य ही अङ्कित रहते हैं। अन्तःकरण सबका साक्षी है, अन्तःकरणके चित्तरूपी विभागमें सदाचार भ्रष्ट होनेका अर्थात् अधर्मका संस्कार अंकित हो जाता है। दूसरी ओर मन, वायु और वीर्य्यका ऐक्य सम्बन्ध रहनेसे उसी अधर्म संस्कारको साथ लेकर गर्भाधान होता है और माता उसी संस्कारके साथ गर्भका पोषण करती है। सुतरां उससे जो सृष्टि होती है, उसमें स्वाभाविकरूपसे अधर्ममें प्रवृत्ति होगी, इसमें सन्देह ही क्या है ॥ १०० ॥

प्रसङ्गसे और भी पुष्टि कर रहे हैं :—

सृष्टि क्रमके अनुकूल न होनेसे ॥ १०१ ॥

वस्तुतः धर्म और अधर्मका सम्बन्ध इस प्रकार माना जा सकता है कि, जो क्रिया सृष्टिके स्वाभाविक नियमके अनुकूल है, उससे धर्मकी उत्पत्ति होती है और जो क्रिया सृष्टिक्रमके अनुकूल नहीं है, वह अधर्म-उत्पादक है। धर्म और अधर्मका लक्षण पहले विस्तारितरूपसे कहा गया है। उन्हीं लक्षणोंसे यह सिद्ध होता है कि, मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें जीव केवल स्वाभाविक संस्कारके वशीभूत होकर स्वाभिमानसे बचकर प्रकृतिमाताको गोदमें लालित पालित होता हुआ अपनी अपनी योनिके धर्मों-

नैसर्गिकी प्रवृत्तिरस्याऽधर्मे ॥ १०० ॥
सृष्टिक्रमाननुकूलभावात् ॥ १०१ ॥

को पालन करता हुआ बिना बाधाके आध्यात्मिक उन्नतिमें अग्रसर होता जाता है। उस जीवकी आत्माकी क्रमाभिव्यक्तिका एकमात्र कारण यही है कि, वह जीव सृष्टिके नियमके अनुकूल प्रकृतिमाताके द्वारा चालित होता रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके नियमके अनुकूल चलनेसे जीवकी क्रमोन्नति अवश्यम्भावी है। इस दशामें तमोगुणकी अवस्थासे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धिके द्वारा जीव बिना बाधाके आगे बढ़ता रहता है। मनुष्ययोनिमें पहुँचकर तमोवर्द्धक पापकर्मके द्वारा वह ऊर्द्धगति रुक जाती है और सत्त्ववर्द्धक पुण्य-कर्मके द्वारा वह ऊर्द्ध्वगति सरल बनी रहती है। जब तमोवर्द्धक कर्म अधर्म और सत्त्ववर्द्धक कर्म धर्म कहाते हैं और जब सृष्टि-का नियम यही है कि, जीव क्रमशः तमकी ओरसे सत्त्वगुणकी अवस्थामें अग्रसर होता हुआ पूर्ण सत्त्वमय मुक्तिपदको प्राप्त कर लेवे, तो यह स्वतः सिद्ध है कि इस प्रकार सत्त्वकी क्रमाभिव्यक्ति ही सृष्टिनियमके अनुकूल है। वर्णसंकर प्रजाकी उत्पत्ति इस नियमके विरुद्ध होती है। वर्णाश्रमधर्म सृष्टिनियमकी रक्षामें सहायक है। उसके द्वारा आर्य्यजाति आत्माकी ओर कैसे ऊर्द्ध्वगतिशील बनी रहती है, सो पहले विस्तारितरूपसे सिद्ध हो चुका है। सुतरां वर्णधर्मरूपी प्रबल सृष्टिनियमके भङ्ग करनेसे वर्णसंकर प्रजा अधार्मिक होगी, इसमें सन्देह ही क्या है॥ १०१॥

इस विज्ञानकी और भी पुष्टि कर रहे हैं:—

श्राद्धक्रिया असम्भव होनेसे यवनसे उत्पन्न प्रेतके समान॥१०२॥

गर्भाधानके समय पिता-माताके अन्तःकरणसम्भूत संस्कारके साथ भावी सन्ततिका कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, इसको सिद्ध करनेके लिये पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार एक दृष्टान्त दे रहे हैं। एक धर्माचार्य संन्यासी एक समय एक प्रतिष्ठित ब्राह्मणके यहाँ अतिथि हुए। रात्रिको भिक्षाके अनन्तर जब वे निद्रित हुए, तब अकस्मात् एक प्रेत जो उस मकानमें रहता था, उसने उनकी निद्रा भङ्ग की। संन्यासीने समझा कि कोई चोर है, ऐसा समझकर घर-वालोंको बुलानेके लिये उठे तो चोरका खिलखिलाकर हंसना

श्राद्धव्याहतेर्यवनजप्रेतवत्॥ १०२॥

उन्होंने सुना। तदनन्तर घरवालोंसे पूछनेपर यह मालूम हुआ कि वह प्रेत है और जीवित अवस्थामें वह उनका कोई सम्बन्धी था। वे महात्मा बड़े दयालु और शक्तिशाली थे, उन्होंने किसी विशेष अनुष्ठानसे उस प्रेतकी मुक्तिका प्रस्ताव किया, तो प्रेतने कहा कि, "मैं आपकी दयाके लिये कृतज्ञ हूँ, परन्तु सनातनधर्मोक्त किसी यज्ञसे मेरी मुक्ति नहीं हो सकेगी।" उसके अनन्तर प्रश्न करनेपर विदित हुआ कि, उस प्रेतकी जीवित अवस्थामें ब्राह्मणके घरमें उसका जन्म अवश्य हुआ था, परन्तु दैवदुर्विपाकसे उसकी माताके गर्भाधानकालमें घटनाचक्रसे किसी समय अकेली जाते समय किसी यवनने उसपर बलात्कार किया था। लज्जावशात् उसकी माताको इस घोर अत्याचारको छिपाना पड़ा था। उसी समय इस प्रेतका पूर्व शरीर उस माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। मृत्युके अनन्तर प्रेतत्वकी दशामें उस प्रेतको उसके जन्मका यह गुप्त रहस्य जो और किसीको भी विदित नहीं था, उसको विदित हुआ और यवनपिताके वीर्य्यसे आए हुए यवनसंस्कारके कारण सनातनधर्मोक्त कोई धर्म उसकी मुक्तिका कारण नहीं बन सकता था। मातृ-पितृजनित तथा रजोवीर्य्यसे सम्बन्धयुक्त संस्कारप्राप्तिका यह अपूर्व दृष्टान्त है॥ १०२॥

प्रसङ्गतः वर्णशुद्धिकी महिमा कह रहे हैंः—

वर्णशुद्धिसे धान्यवत् वृद्धि होती है॥ १०३॥

वर्णधर्मकी महिमा पहले बहुत कुछ प्रतिपन्न हो चुकी है। अब रजोवीर्य्य-शुद्धिविज्ञान, जिसका वर्णन इससे पहले आया है, उसके सम्बन्धसे पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, रजोवीर्य्यकी शुद्धिमूलक वर्णधर्मकी महिमा एक धान्यके उदाहरणसे समझने योग्य है। जिस प्रकार यदि पृथिवीभरमें किसी दैवकारणसे सब धान्य नष्ट होकर केवल एक शुद्ध धान्य बच जाय तो, कालान्तरमें उसी एक शुद्ध धान्यसे पृथिवी पुनः धान्यपूर्ण हो सकती है। उसी प्रकार शुद्ध रजोवीर्य्यसे युक्त ब्राह्मणादि वर्णके कुल थोड़े भी विद्यमान यदि रहें तो, कालान्तरमें वर्णधर्मसे युक्त आर्य्यप्रजा पुनः विस्तृत होकर त्रिलोकको पवित्र कर सकती है॥ १०३॥

वर्णविशुद्ध्या विवृद्धिर्धान्यवत्॥ १०३॥

अब त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता बताई जाती हैः—

तीन धातुओंकी समताके समान त्रिविध शुद्धि प्रयोजनीय है ॥१०४॥

वैद्यक शास्त्रके अनुसार वात, पित्त और कफकी समतासे जिस प्रकार शरीर नीरोग और आत्मा उन्नत रहती है, उसी प्रकार अध्यात्मादि त्रिविध शुद्धिके द्वारा संस्कारशुद्धिसे जीव अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करता है। आयुर्वेदशास्त्रका यह सिद्धांत है कि जब वात, पित्त और कफ इन तीनोंमेंसे किसीकी भी शुद्धिमें कमी हो जाती है, तभी शरीरमें पीड़ा उत्पन्न होती है और तीनोंकी समता रहनेसे शरीर नीरोग रहता है। आयुर्वेदशास्त्रका यह भी सिद्धांत है कि वात, पित्त और कफ इन तीनोंकी विशुद्धतासे मनुष्य मुक्तिपर्य्यन्त प्राप्त कर सकता है। उसी प्रकार वर्णकी त्रिविध शुद्धि द्वारा आर्य्यगण अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंको प्राप्त किया करते हैं। वर्णधर्मके निर्वाहमें यदि एक शुद्धिकी भी कमी हो तो, उतनी ही असम्पूर्णता आजाती है इस कारण तीनोंकी समान आवश्यकता है, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा हैः—

"तपः श्रुतं च योनिश्च एतद्ब्राह्मणकारणम्।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः॥"

तपस्या, शास्त्रज्ञान और योनि ये तीनों ब्राह्मण आदि द्विजातियोंके कारण हैं, जो तपस्या और शास्त्रज्ञानसे रहित है, वह केवल जाति ब्राह्मण है ॥ १०४ ॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैंः—

हिमालय जिस प्रकार ऐश्वर्य्यकी रक्षा करता है, वैसे ही त्रिविध शुद्धि वर्णाश्रमकी रक्षा करती है ॥१०५॥

महर्षि सूत्रकार पूर्व विज्ञानकी पुष्टि उदाहरणके द्वारा कर रहे हैं। जिस प्रकार पर्व्वतराज हिमालय सब प्रकारके लौकिक ऐश्वर्य्योंका रक्षक है, उसी प्रकार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत-

शुद्धित्रैविध्यमपेक्ष्यं धातुत्रयसाम्यवत् ॥ १०४ ॥
तद्वर्णाश्रमरक्षकं हिमालयवदैश्वर्य्यस्य ॥ १०५ ॥

रूपी त्रिविध शुद्धि वर्णाश्रमधर्मी प्रजाके सब प्रकारके मांगलिक ऐश्वर्य्योंकी रक्षक है। हिमालय पर्वतके आश्रयसे पृथिवीकी सब श्रेणीकी उद्भिज्ज सृष्टि जीवित रहती है। ऐसी कोई पशु-पक्षियां देखनेमें नहीं आतीं, जो हिमालयके विशाल देहमें क्रीड़ा न करती हों। पर्व्वतपति हिमालय सुवर्णादि सब प्रकारके धातु और हीरक आदि सब प्रकारके रत्नोंका आकर है, उसी प्रकार वर्णकी त्रिविध शुद्धिसे वर्णधर्म और आश्रमधर्म दोनोंकी विशुद्धता बनी रहती है, आर्य्यजाति जीवित रहती है तथा आर्य्यत्वकी रक्षा होनेसे यज्ञादि धर्म बने रहते हैं और धर्मकी रक्षासे ऋषि देवता एवं पितरोंका अभ्युदय भी बना रहता है। वस्तुतः इस त्रिविध शुद्धिपर ही सब कुछ निर्भर है, इसमें संदेह नहीं ॥१०५॥

वर्णधर्मके विज्ञानकी पुष्टिके लिये गुण संस्कारका क्षय कैसे होता है, सो कहा जाता हैः—

परिणामसे गुणसंस्कारका क्षय होता है ॥१०६॥

गुणसंस्कारके विकाशका साक्षात् सम्बन्ध शरीरसे है। गुण-विकाशका आधार स्थूलशरीर होनेके कारण गुणसंस्कारके साथ स्थूलशरीरका बड़ा भारी सम्बन्ध है। यही कारण है कि धर्म्मा-चार्य्योंने जन्मके साथ वर्णधर्मका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रक्खा है। जैसा कि मनुभगवान्ने कहा हैः—

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाऽग्निर्दैवतं महत् ॥

जिस प्रकार अग्नि आहित हो या अनाहित हो, वह पूज्य देवता है। उसी प्रकार ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या मूर्ख हो, वह सर्वोच्च देवता है। श्रीभगवान्ने भी निजमुखारविन्दसे कहा है कि, "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः" ब्राह्मण चाहे विद्वान् हो या अविद्वान् हो वह मेरा शरीर है। इस विज्ञानको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि पूर्व जन्मार्जित प्रारब्धके द्वारा मनुष्यको जाति, आयु, भोग, प्रकृति और प्रवृत्ति इन पांच वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, इन पांचोंमेंसे पहले तीन मुख्य हैं और पिछले दो गौण हैं।

गुणसंस्कारहानं परिणामात् ॥ १०६ ॥

इसी मुख्यत्व और गौणत्वके हिसाबसे पहले तीनोंका सम्बन्ध स्थूलशरीरके साथ अधिक और दूसरे दोनोंका सम्बन्ध सूक्ष्म शरीरके साथ अधिक समझा जाता है। इसमें भी गुणसंस्कार ही कारण है। शरीरके परिणामके साथ ही साथ गुणसंस्कारका हान होता है, यही साधारण नियम है। दूसरी ओर जबतक स्थूलशरीर रहता है, तबतक प्रारब्धजनित गुणसंस्कारके साथ जीव जकड़ा रहता है और उस संस्कारसे तभी पूर्णरूपसे मुक्त होता है जब स्थूल शरीरका अन्त होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि सत्त्वप्रधान ब्राह्मणशरीर, रजःसत्त्वप्रधान क्षत्रियशरीर, रजस्तमःप्रधान वैश्यशरीर और तमःप्रधान शूद्रशरीर होनेसे यदि क्षत्रियका उदाहरण लिया जाय, तो क्षत्रियशरीरमें जो रजःसत्वगुणकी प्रधानता तथा उसके कारण उसका प्रभाव जो जाति, आयु, भोग, प्रकृति और प्रवृत्तिपर पड़ता रहता है, सो उसका अस्तित्व जीवकी चाहे कैसीही अवस्था हो रूपान्तरसे बना रहेगा और उसका हान केवल परिणामसे होगा। इसी कारण क्षत्रियशरीरधारी अवतार और ब्राह्मणशरीरधारी अवतारतकमें तथा ब्राह्मणशरीरधारी ज्ञानी और क्षत्रियशरीरधारी ज्ञानीके आचार-व्यवहारोंमें स्पष्ट भेद प्रतीत होता है। वे सब यथायोग्य संस्कार यथासमय परिणामसे ही हानको प्राप्त होते हैं ॥१०६॥

प्रसंगसे शंका-समाधान कर रहे हैंः—

उसका लङ्घन असाधारण नियमसे होता है ॥ १०७ ॥

अब यदि आत्मजिज्ञासुके हृदयमें इस प्रकारकी शंका हो कि यदि संस्काररहस्य ऐसा ही है तो, पुनः क्षत्रिय-गुणसंस्कारधारी विश्वामित्र महर्षि ब्राह्मण कैसे हो गये? महात्मा नन्दिकेश्वर मनुष्यशरीरके गुणसंस्कारोंसे मुक्त होकर देवता कैसे बन गये? परशुराम अवतार ब्राह्मणशरीरमें उत्पन्न होनेपर भी उनमें क्षत्रियके लक्षण क्यों प्रकाशित हुए? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, असाधारण तपःशक्ति, असाधारण योगशक्ति अथवा असाधारण वैदिक-कर्मशक्तिसे इस प्रकारके गुणसम्बन्धीय संस्कारोंका परिवर्त्तन हो सकता है।

तल्लङ्घनमसाधारणनियमात् ॥ १०७ ॥

क्योंकि तपकी महिमा सर्वोपरि है, यह समस्त संसार तपका ही फलस्वरूप है। जैसा कि यजुर्वेदीय तैत्तरीयोपनिषद्‌में लिखा है:—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।
स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।
इद ॐ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।
तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

महाप्रलयके पश्चात् समष्टि-जीवोंके प्रारब्धानुसार श्रीभगवान्‌के अन्तःकरणमें 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् मैं एकसे बहुत होऊं और प्रजाओंकी सृष्टि करूं, इस प्रकारकी इच्छा उत्पन्न होती है, उस समय वे तपके द्वारा समस्त संसार उत्पन्न करके उसमें सत्तारूपसे व्याप्त होते हैं। इसी तरह अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्‌में लिखा है, यथा—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥

तपके द्वारा भूतयोनि अक्षर ब्रह्म उत्फुल्ल होते हैं जैसा कि पुत्रको देखकर पिता उत्फुल्ल होता है। तदनन्तर अन्न उत्पन्न होता है और उससे प्राण, मन, सत्य, लोकसमूह, कर्म तथा अमृत आदि उत्पन्न होते हैं। महर्षि विश्वामित्रकी अमानुषिक तपस्या, महात्मा नन्दिकेश्वरका अलौकिक योगबल और अवतार परशुरामके गर्भमें आते समय दैवीक्रियासे वैदिकयज्ञके चरुमें विशेषता उत्पन्न होना, ये सब असाधारण नियमके जाज्वल्यमान प्रमाण हैं॥ १०७॥

अब दूसरी श्रेणीके संस्कारके सम्बन्धमें कहा जाता है:—

भावमें स्वाधीनता है॥ १०८॥

गुणसंस्कारके हानमें जो कठिनता है, भावसंस्कारके हानमें वह कठिनता नहीं है। अधिभूतभावसे अधिदैवभाव अथवा अधिदैवभावसे अध्यात्मभाव अथवा इन तीनोंमेंसे किसीसे किसीमें संस्कारका परिवर्त्तन कर देना सुगम है। यह परिवर्त्तन

भावे स्वातन्त्र्यम्॥ १०८॥

अभ्यास करते करते साधन द्वारा हो सकता है अथवा ज्ञानबलकी सहायतासे तुरन्त हो सकता है। भोजनपदार्थ जीवके लिये प्रधान अवलम्बन है, उस भोजनको भोजन न समझना और भगवत्प्रसाद समझना, यह काम भक्त बहुत दिनोंके अभ्याससे कर सकता है। स्त्री भोग्यवस्तु है, उस भोग्यभावको भूलकर स्त्रीमात्रको "स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु" इस शास्त्रवचनके अनुसार उपासक कालान्तरमें स्त्रीमात्रमें ब्रह्मप्रकृतिकी धारणा कर सकता है। उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी अपने ज्ञानबलकी सहायतासे अपने शरीरमें दृश्यबुद्धि अर्थात् आधिभौतिकमें अध्यात्मभाव परिवर्त्तन और प्रत्येक क्रियामें दैवसम्बन्ध स्थापन करके आधिभौतिकमें आधिदैविक भाव परिवर्त्तन, इस प्रकार सबमें सबका परिवर्तन तत्काल कर सकता है और उससे प्रकृतिकी गतिको अबाध तथा मुक्तिपदको सरल रख सकता है ॥ १०८ ॥

पुरुषधर्मके साथ उनका सम्बन्ध दिखाया जाता हैः—

उद्भिज्ज बीजके समान पुरुषमें त्रिविध शक्तिकी अपेक्षा रहती है ॥ १०९ ॥

गुणपरिणाम और भावपरिणाम इन दोनों परिणामोंमेंसे शीघ्र सफलता प्राप्तिके लिये पुरुषमें त्रिविध भावशक्तिकी प्राप्तिकी आवश्यकता रहती है। जैसे उद्भिज्ज श्रेणीके जीवोंमें बीजसे फलकी उत्पत्ति करानेमें पृथिवी, जल और काल इन तीनों शक्तियोंकी आवश्यकता रहती है, ठीक उसी प्रकार पुरुषजातिको निःश्रेयस प्राप्तिके लिये तीनोंकी आवश्यकता है। स्त्रीजातिके अभ्युदय और निःश्रेयसके लिये जो सुगम शैली है, पुरुषके लिये वह शैली कुछ कठिन है। अतः त्रिविध शुद्धिका विचार पुरुषधर्ममें अधिक रक्खा गया है ॥ १०९ ॥

पुरुषधर्मका रहस्य कहकर अब वर्णाश्रमधर्मका रहस्य कहा जाता हैः—

एकके साथ दूसरेकी समापत्ति की जाती है ॥ ११० ॥

शक्तित्रयमपेक्ष्यं पुरुषे उद्भिद्बीजवत् ॥ १०९ ॥
एकेनाऽन्यस्य योगसमापत्तिः ॥ ११० ॥

केवल त्रिविध शुद्धिका विचार रखनेसे पुरुषजातिकी आध्यात्मिक उन्नति सम्भव है, परन्तु पुरुषजातिके अभ्युदय और निःश्रेयस निश्चय करनेके लिये तथा मनुष्यजातिको अधःपतित न होने देनेके लिये निश्चित मार्ग बताया जाता है। जब भावसंस्कारके साथ गुणसंस्कारका यथायोग्य संयोग करके जीवको उन्नत किया जाय तो इस प्रकार अलौकिक और सार्वजनिक फलकी प्राप्ति हुआ करती है। वर्णाश्रमधर्मकी मूलभित्ति इसी विज्ञानपर स्थित है ॥ ११० ॥

प्रकृत विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं:—

वर्णधर्मके द्वारा एककी समापत्ति होती है ॥ १११ ॥

संस्कारकी समापत्तिके विचारसे वर्णधर्म सर्वप्रधान है क्योंकि वर्णधर्मके द्वारा गुणसम्बन्धी संस्कारकी समापत्ति होती है। इसका विज्ञान पहले ही निश्चित हो चुका है कि रजोवीर्य्यके द्वारा गुणके संस्कार आकृष्ट होते हैं और भोगके द्वारा उनका हान होता है एवं हान हो जानेसे मुक्तिका मार्ग सरल हो जाता है। वर्णधर्मके आचार ऐसे सुकौशलपूर्ण क्रियाओंसे निर्णीत हुए हैं कि उनके द्वारा स्वतः ही गुणसंस्कारका भावसंस्कारके साथ योग होनेसे अस्वाभाविक अंशका क्षय और स्वाभाविक अंशकी अभिव्यक्ति होकर जीव मुक्तिभूमिमें पहुँच जाता है ॥ १११ ॥

अब दूसरेका कह रहे हैं—

आश्रमधर्मके द्वारा दूसरेका होता है ॥ ११२ ॥

वर्णधर्मकी शक्तिका महत्त्व पूर्व सूत्रमें कहकर महर्षि सूत्रकार अब आश्रमधर्मकी शक्तिका महत्त्व कह रहे हैं। आश्रमधर्मके आचारसमूहके द्वारा भावसंस्कारका गुणसंस्कारसे योग होता है। वर्णधर्म प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्म निवृत्तिपोषक है, यह पहले ही कहा गया है। वर्णधर्मसे गुणसंस्कार तथा आश्रमधर्मसे भावसंस्कार स्वतः ही आकृष्ट होकर हानको प्राप्त होते जाते हैं और जीवको सब संस्कारोंके विलयरूप निर्विकल्प स्वरूपकी ओर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर करते रहते हैं। इसलिये जाबाल-श्रुतिमें लिखा है कि-

---

वर्णधर्मेणैकस्य ॥ १११ ॥
आश्रमधर्मेणाऽन्यस्य ॥ ११२ ॥

ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत् ।
गृही भूत्वा वनी भवेत् । वनी भूत्वा प्रव्रजेत् ॥

ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त करके गृही होवे । गृहस्थाश्रमके बाद वानप्रस्थी होवे । वानप्रस्थाश्रमके बाद सन्न्यास लेवे । सुतरां, जो मनुष्यसमाज या जो मानव वर्णाश्रमधर्मका यथार्थतः पालन कर सकते हैं, उनमें दोनों संस्कारोंका योग साथ ही साथ होकर उनका आध्यात्मिक भूमिमें क्रमाभ्युदय निश्चित रहता है। यही वर्णाश्रम-धर्मका अकाट्य सिद्धान्त और अलौकिक महत्त्व है ॥ ११२ ॥

यदि ऐसा न हो तो क्या होता है:—

अन्यथा बन्ध टूटे हुए प्रवाहकी न्याई अधःपतन होता है ॥ ११३ ॥

यदि जिज्ञासुओंके चित्तमें ऐसी शंका हो कि जो मनुष्य या मनुष्यजाति वर्णाश्रमधर्मको नहीं मानती है उसकी क्या दशा होती है ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है और कहते हैं कि जिस प्रकार बांध बांधकर जलको निर्गमन स्थानसे गन्तव्य स्थान तक पहुंचाया जा सकता है, परन्तु यदि वह बन्ध टूट जाय तो उस प्रवाहका जल इधर उधर निम्नस्थानमें फैलकर नष्ट हो जाता है, उस प्रवाहको लक्ष्य स्थलकी प्राप्ति नहीं होती; ठीक उसी प्रकार मनुष्य-जातिकी क्रमोन्नतिके प्रवाहमें बन्धरूपी वर्णाश्रमधर्म जिस मनुष्य-समाजमें प्रचलित नहीं होता है, वह मनुष्यजाति कालान्तरमें नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका कारण है। प्रथम अस्वाभाविक संस्कारका हान करते हुए स्वाभाविक संस्कारका क्रमविकाश करना होता है और क्रमशः स्वाभाविक संस्कारका भी हान करके गुणातीत, भावातीत, अद्वैत कैवल्यपद प्राप्त करना होता है। यह क्रिया स्वभावसे ही वर्णाश्रमधर्म द्वारा सम्पादित होती है। इसी कारण जिस मनुष्यजातिमें वर्णाश्रमधर्म प्रचलित है, वह जाति विना बाधाके अभ्युदय और निःश्रेयसकी ओर अग्रसर होती रहती है। यदि

अन्यथाऽधःपातो निर्बन्धप्रवाहवत् ॥ ११३ ॥

यह शंका हो कि वर्णाश्रमधर्मयुक्त आर्यजाति भी अधःपतित क्यों हुआ करती है? इस प्रकारकी शंकाका समाधान यह है कि जैसे कालप्रभावसे सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंका क्रमशः उदय होता है, उसी प्रकार कालप्रभावसे आर्यजाति कभी रजोगुणमय होकर जागती है और जागती हुई सत्त्वगुणकी ओर अग्रसर होती रहती है, उस समय उसमें ज्ञान, उद्यम, शक्ति और शान्ति आदि उन्नत लक्षण प्रकाशित रहते हैं और कभी वह जाति कालप्रभावसे तमोगुणसे आच्छन्न होकर सोने लगती है; उस समय उस जातिमें प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, निरुद्यम, अशक्ति, अशान्ति, ईर्षा, द्वेष, अनैक्य, अनुदारता आदि तमोगुणकी वृत्तियां प्रकट हो जाती हैं। जैसे मनुष्य दिनमें जागृत रहता है और रातको निद्रित हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आर्य्यजाति भी कालप्रभावसे कभी जागती है और कभी सोती है; परन्तु उस वर्णाश्रमयुक्त आर्यजातिका नाश अथवा रूपान्तर नहीं होता है। दूसरी ओर जिस मनुष्यजातिमें त्रिलोकपवित्रकर वर्णाश्रमधर्म नहीं है, जिस मनुष्यजातिमें रजोवीर्यकी शुद्धि और भावशुद्धिका क्रम विद्यमान नहीं है, वह मनुष्यजाति कालकी कराल और अदमनीय गतिके प्रभावसे कालान्तरमें या तो असभ्य और वर्बर होकर पशुवत् हो जायगी या नष्ट भ्रष्ट होकर कालके कवलमें प्रवेश कर जायगी। जैसा कि स्मृतिशास्त्रमें कहा है:—

यतो वर्णाश्रमैर्धर्मैर्विहीना सर्वथा ननु।
असौ सृष्टिर्मानवानां कालिकायाः प्रभावतः॥
प्रकृतेर्मे लयं याति कुत्रचित् समये स्वतः।
धत्ते रूपान्तरं वासौ नात्र कार्य्या विचारणा॥

वर्णाश्रमधर्मविहीन मनुष्यसृष्टि स्वतः मेरी प्रकृति कालीके प्रभावसे किसी समयान्तरमें सर्वथा लयको प्राप्त होती है अथवा रूपान्तरको धारण कर लिया करती है। यह निश्चय है॥ ११३॥

प्रसंगसे आर्य्यजातिका लक्षण कह रहे हैं:—

दोनोंसे युक्त आर्य्यजाति है॥ ११४॥

आर्य्यजातिरुभयोपेता॥ ११४॥

सब जीवोंमें पूर्णावयवयुक्त धर्माधिकारको प्राप्त करनेवाली मनुष्यजातिको दो श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, यथा एक आर्य्य-जाति, दूसरी अनार्य्यजाति। उनमेंसे जिस जातिमें वर्णधर्म और आश्रमधर्म ये दोनों विद्यमान हों वह आर्य्यजाति कहाती है। जब मनुष्यजातिके जीवित रहने और न रहने तथा उसमें आध्यात्मिक शक्ति रहने या न रहनेके साथ वर्णाश्रमधर्मका सम्बन्ध गुम्फित है, तो उसके विचारसे मनुष्यजातिका भी नामकरण होना उचित है। इसी कारण पूज्यपाद महर्षियोंने वर्णाश्रधर्मसे युक्त मनुष्यजातिको आर्य्यजाति कहा है। स्मृतिशास्त्रमें भी देखा जाता है, यथाः—

कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारे स तु आर्य इति स्मृतः॥

कर्त्तव्यपरायण, अकर्त्तव्यविमुख, आचारवान् पुरुषही आर्य है। और भी कहा हैः—

यैवं सदाचार-वर्णाश्रम-धर्मानुगामिनी।
सर्वस्वं मनुते वेदं सार्य्यजातिरिति स्मृतिः॥

जो इस प्रकारसे सदाचार और वर्णाश्रमधर्मका अनुसरण करती हो एवं वेदको ही अपना सर्वस्व समझती हो, स्मृतिके मतसे वही आर्यजाति है। निरूक्तकार यास्कमुनिने भी कहा है कि-"आर्य ईश्वरपुत्रः" ईश्वरपुत्रको आर्य कहते हैं॥ ११४॥

अब विरुद्धधर्मावलम्बिनी अन्य मनुष्यजातिका लक्षण कह रहे हैंः-

उससे विपरीत अनार्यजाति है॥ ११५॥

जिन मनुष्यजातियोंमें वर्णाश्रमधर्म नहीं है, वे मनुष्यजातियां अनार्य्यजातियां कहाती हैं। पृथिवीकी अन्य मनुष्यजातियोंमें पूर्व कथित भय रहनेके कारण पूज्यपाद धर्माचार्य्योंने उनकी अनार्य-संज्ञा की है। वह मनुष्यजाति बल, ऐश्वर्य्य और आधिभौतिक उन्नति के विचारसे चाहे थोड़े कालके लिये कितनी ही प्रभावशालिनी हो जाय, कालान्तरमें उसका रूपान्तर अथवा विलय अवश्यम्भावी

तद्विपरीताऽनार्य्या॥ ११५॥

होनेसे सावधानताके विचारसे यह नामकरण किया गया है। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है:—

एतद्भिन्नाऽनार्यजातिः सदाचारादिवर्जिता ।
अन्यदप्येवमेवोह्यं नोच्यते विस्तृतेर्भयात् ॥

वह अनार्य्य जाति है जो सदाचारसे रहित है, इसी प्रकार अन्य बातें भी जान लेनी चाहिये, जो विस्तारभयसे यहांपर नहीं कही जा सकतीं ॥ ११५ ॥

जातिभेदप्रसंगसे मानवभेद वर्णन किया जाता है:—

त्रिगुणभेदसे देव, असुर और राक्षस इस प्रकार मनुष्य त्रिविध होता है ॥ ११६ ॥

मनुष्यजातिका श्रेणीविभाग करके अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार लक्ष्य-निर्णय करानेके अर्थ मनुष्यकी श्रेणीकी विचारशैली बतला रहे हैं। चाहे आर्य्यजाति हो चाहे अनार्य्यजाति हो, उनमें अधिकारानुसार उत्तम मध्यम और अधम श्रेणी अवश्य होगी। आर्य्यजातिमें जन्म लेते ही नर-नारीको अहंकार होकर उसकी क्रमोन्नति न रुके इस कारण कहा जाता है कि चाहे किसी मनुष्य-जातिका पुरुष अथवा स्त्री हो, वे त्रिगुणभेदसे तीन श्रेणीके होंगे। सात्त्विक नर नारी देवश्रेणी, राजसिक नर नारी असुरश्रेणी और तामसिक नरनारी राक्षसश्रेणीके कहे जायंगे। जैसा कि भागवतमें भगवान्ने स्वयं कहा है कि—

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते ।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव ! रक्षसाम् ॥

सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका बल, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका बल और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ता है, इस विषयमें स्मृतिशास्त्रमें भी कहा गया है:—

त्रिधा ज्ञेया नरा नार्य्यो भेदात्त्रैगुण्यगोचरात् ।
भवन्ति पितरस्तेषु सात्त्विका गुणमोहिताः ॥

मानवा देवाऽसुरराक्षसास्त्रैगुण्यात् ॥ ११६ ॥

राजसा रूपमुग्धाश्च तामसाः काममोहिताः ।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ॥
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।

त्रिगुणसम्बन्धी भेदके अनुसार नर और नारी तीन प्रकारके जानना चाहिये । हे पितरो ! उनमेंसे सात्त्विक गुणमोहित, राजसिक रूपमोहित और तामसिक नरनारी काममोहित होते हैं । सात्त्विक मनुष्यको उत्तम, राजसको मध्यम और कनिष्ठगुणी तामसको नीच गति प्राप्त होती है ॥ ११६ ॥

उनकी प्रवृत्ति कही जा रही है:—

परार्थ स्वार्थ परापकारपर वृत्ति होती है ॥११७॥

सत्त्वगुणावलम्बी देवश्रेणीके मनुष्य परार्थी, रजोगुणावलम्बी असुरश्रेणीके मनुष्य स्वार्थी और तमोगुणावलम्बी राक्षसश्रेणीके मनुष्य परापकारी होते हैं । जिस नरनारीमें यह लक्षण पाया जाय कि वह दूसरेके अभ्युदय और कल्याणसे अपनेको कृतार्थ समझता हो तथा दूसरेके ऐहलौकिक अथवा पारलौकिक कल्याणमें रत हो, वह मनुष्य देवता और वह नारी देवी कहावेगी । जिस नर अथवा नारीमें केवल स्वार्थ ही स्वार्थके लक्षण पाये जायं, जो नरनारी अपने ही व्यक्तिगत स्वार्थ, सुख और अभ्युदयको यथेष्ट समझता हो, पुरुष होनेपर वह असुर और स्त्री होनेपर वह आसुरी कहावेगी और जिस नर अथवा नारीमें केवल दूसरेके अपकार करनेकी प्रवृत्ति विद्यमान हो और जो परापकार करके अपनेको सुखी समझता हो वह यदि नर हो तो राक्षस और नारी हो तो राक्षसी कहावेगी । पूज्य-महर्षिगण किस प्रकार पक्षपातरहित सर्वजीवहितकर और सम-दर्शी थे सो इस सूत्र द्वारा प्रकट हो रहा है । आर्य्य अनार्य्य संज्ञा करनेसे और आर्य्य अनार्य्य जातिको अकाट्य वैज्ञानिक युक्तिसे सिद्ध करनेसे कदाचित् बुद्धिभेद होकर आर्य्य अथवा अनार्य्य दोनों जातिका अपकार हो, इस कारण दोनोंका लक्ष्य स्थिर करा-नेके लिये यह त्रिविध मनुष्यश्रेणीका रहस्य प्रकाशित किया गया है ॥ ११७ ॥

परार्थस्वार्थपरापकारपरता वृत्तिः ॥ ११७ ॥

आर्य्य जातिके विशेषत्वका मौलिक सिद्धान्त कहा जाता हैः—

त्रिविध शुद्धिके कारण आर्य्यजातिकी इतनी प्रतिष्ठा है ॥ ११८ ॥

आर्य्यजातिकी प्रतिष्ठाकी मौलिक भित्ति त्रिविध शुद्धि है। ज्ञान-द्वारा अध्यात्मशुद्धि, कर्मद्वारा अधिदैव शुद्धि और रजोवीर्य्यकी पवित्रताके द्वारा अधिभूत शुद्धि हुआ करती है। इन तीनोंकी ही प्रतिष्ठा आर्य्यजातिमें विद्यमान है। आश्रमधर्मकी शिक्षाप्रणाली आध्यात्मिक शुद्धिका ज्वलन्त दृष्टान्त है। वर्णधर्मके आचार और आश्रमधर्मके क्रियासिद्धांशसमूह अधिदैवशुद्धिप्रद हैं, यह सबको ही मानना पड़ेगा और जन्मसे वर्णधर्मका दृढ़ सम्बन्ध रखनेके कारण तथा आर्य्यनारियोंमें सतीत्व-धर्मका आदर्श विद्यमान रहनेके कारण, आधिभौतिक शुद्धि आर्य्यजातिमें ही हो सकती है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। कदापि कोई विरुद्ध धर्म्मावलम्बी या कोई अन्य मनुष्य जाति अपनेमें आध्यात्मिक शुद्धि और आधिदैविक शुद्धिके कुछ लक्षण प्रकारान्तरसे दिखा सकते हों, परन्तु रजोवीर्य्यकी शुद्धि तथा सतीत्व-धर्ममूलक अधिभूत शुद्धि केवल वर्णाश्रमधर्मसेवी आर्य्य जातिमें ही प्राप्त हो सकती है, यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है। सुतरां एकाधारमें त्रिविध शुद्धि विद्यमान रहनेसे आर्य्यजातिका महत्त्व सर्वोपरि है और उदार तथा सत्यपरायण बुद्धिमानमात्र ही इस सिद्धान्तको अवश्य स्वीकार करेंगे ॥११८॥

आर्य्यजातिकी और भी विशेषता कही जा रही हैः—

वह देवताओंकी प्रशंसनीय है ॥ ११९ ॥

चतुर्दश भुवनोंमेंसे यद्यपि यह मृत्युलोक एक चतुर्दश विभागका एक चतुर्थ विभाग है, परन्तु अन्य सब लोक केवल भोगभूमि है। ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंमें दैवभोग; निम्न सप्तलोकोंमें आसुरीभोग नरक तथा प्रेतलोकोंमें दुःखभोग पूर्ण होनेसे अन्य लोकोंमें कर्म करके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्ति करनेका अवसर प्रधानतः मिलता ही नहीं, यदि ऐसा कहा जाय तो, अत्युक्ति नहीं होगी।

गरीयस्त्वमियदार्य्यजातेः शुद्धित्रैविध्यात् ॥ ११८ ॥
श्लाघनीया देवानाम् ॥ ११९ ॥

सुतरां मृत्युलोक कर्मभूमि होनेसे और उसमें उत्पन्न हुई आर्य्य जातिमें त्रिविध शुद्धिकी सहायता स्वभावसे मिलते रहनेके कारण आर्य्यजाति और आर्य्यावर्त्त देवताओंके लिये भी श्लाघनीय है। इसी कारण स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्म्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि,संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तमालयं ते त्वमलाः प्रयान्ति ॥
जानीम नैतत् क वयं विलीने स्वर्गप्रदे कर्मणि देहबन्धम् ।
प्राप्स्याम धन्याः खलु ते मनुष्याः,ये भारते नेन्द्रियविप्रहीनाः ॥

देवता लोग गान करते हैं कि स्वर्ग और मोक्षके साधनका मार्ग जो भारतवर्ष है, उसमें मनुष्य-जन्म लेनेसे ही देवता होते हैं, अतः वे मनुष्य अवश्य प्रशंसनीय हैं। कर्त्तव्य बुद्धिसे जिस कर्मको किया जाता है, ऐसे कर्मको परमात्मा विष्णुमें समर्पण करके कर्मरूपी मही-को पाकर वे निर्मल होकर विष्णुलोकमें पहुँच जाते हैं। स्वर्गको देनेवाले कर्मके नाश हो जानेपर हमलोगोंका जन्म कहां होगा यह नहीं जानते हैं, जो मनुष्य भारतमें सर्वेन्द्रियोंसे युक्त हैं, वे अवश्य धन्य हैं।

दूसरी ओर ऋषि, देवता और पितृ इन तीनों श्रेणीक देवता-ओंकी प्रसन्नताके साथ वर्णाश्रम धर्मावलम्बी आर्य्यजातिका किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसका ज्वलन्त प्रमाण दैवीमीमांसा दर्शन तथा वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्रसम्बन्धीय ग्रन्थोंके अनेक स्थलोंमें पाया जाता है ॥११९॥

और भी कहा जाता है:—

उससे देवताओंका सम्वर्द्धन होता है ॥ १२० ॥

दैवलोकके चालक जितने देवता हैं, वे तीन भागमें विभक्त किये जाते हैं तथा उन तीनों श्रेणीके देवताओंके सम्वर्द्धनके उपाय भी स्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं, यथा-दैवी मीमांसा दर्शनमें कहा गया है:—

देवसम्वर्द्धित्वमार्य्याणाम् ॥ १२० ॥

" ब्रह्मयज्ञादिभिः प्रोर्जिता ऋषयः "
" देवयज्ञादिभिर्देवाः "
" पितृयज्ञादिभिः पितरः "

ब्रह्मयज्ञ आदिसे ऋषिगण संवर्द्धित होते हैं। देवयज्ञादिसे देवगण सम्वर्द्धित होते हैं और पितृयज्ञादिके द्वारा पितृगण सम्वर्द्धित होते हैं।

दैवराज्यका ज्ञानलाभ करना, दैवराज्यपर विश्वास स्थापन करना, दैवराज्यके चालकोंके सम्वर्द्धनके अनन्तर नाना यज्ञों तथा महायज्ञोंका अनुष्ठान करना इत्यादि सब गुणावली आर्यजातिमें विद्यमान है। इस कारण आर्यजाति देवलोकके सम्वर्द्धनका प्रधान कारण है, यह सिद्ध हुआ ॥ १२० ॥

और भी विशेषता कही जाती है:—

उसमें धर्मपोषकत्व है ॥ १२१ ॥

वर्णाश्रमधर्मप्राण आर्य्यजाति वस्तुतः धर्मकी पोषिका है। यद्यपि पृथ्वीकी अनार्य्यजातियोंमें भी विभिन्न धर्मके लक्षण विद्यमान हैं, परन्तु उनके धर्मका स्वरूप संकीर्ण भावापन्न होनेके कारण उनमें न तो साधारण धर्मके सब लक्षण विद्यमान हो सकते हैं, न उनमें विशेष धर्मके महत्त्व प्रकाशित हो सकते हैं और उनमें आध्यात्मिक ज्ञानकी संकीर्णता होनेके कारण आपद्धर्म और असाधारण धर्मका विज्ञान भी वे समझ नहीं सकते हैं। दूसरा विचार करने योग्य विषय यह है कि, जब आधार पूर्ण होता है, तभी उसमें आधेय सब प्रकारके स्थान पा सकते हैं। जिस जातिकी सामाजिक शृंखला वर्णाश्रमधर्मकी दृढ़ भित्तिपर स्थित है, जिस जातिमें रजोवीर्य्यकी शुद्धि होनेके कारण जातिगत अधःपतनका द्वार रुद्ध रहता है, जिस जातिका सदाचार आध्यात्मिक लक्ष्यसे पूर्ण होनेके कारण उसमें अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्म और मोक्षका आदर सदा बना रहता है और जिस जातिका धर्मविज्ञान साधारणधर्म, विशेषधर्म, असाधारणधर्म और आपद्धर्मके सब अङ्गोंसे परिपूर्ण है, वह जाति धर्म पोषिका होगी इसमें सन्देह ही क्या है ॥ १२१ ॥

धर्मपोषकत्वं च ॥ १२१ ॥

प्रसंगसे जातिनिर्णय-विज्ञान कहा जाता है:—

जातिनिर्णय गुणसम्बन्धसे होता है ॥ १२२ ॥

वर्णाश्रम प्रसंगसे जातित्व, तत्पश्चात् आर्यजाति और अनार्यजाति भेदसे जातित्वका विस्तारित वर्णन जानकर जिज्ञासुके चित्तमें यह प्रश्न हो सकता है कि, अन्य स्थानोंमें जातिनिर्णय कैसे किया जा सकता है ? ऐसी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार कह रहे हैं कि, गुण-विचारसे ही जातिका निर्णय सब स्थानोंमें ही हो सकता है। जैसे गुण-विचारसे ब्राह्मणजातिका विज्ञान पहले कहा गया है और जैसे अध्यात्मलक्ष्य और आधिभौतिक लक्ष्यके लक्षण द्वारा गुण-भेदसे आर्य अनार्यरूपी जातिविभाग माना गया है; उसी प्रकार गुण-विचारसे सब प्रकारके भूतसंघमें जाति विभाग निर्णय किया जा सकता है ॥ १२२ ॥

विज्ञानकी पुष्टि कर रहे हैं:—

विधिके दर्शनसे भी ॥ १२३ ॥

सर्वत्र ऐसी रीति भी देखी जाती है, कि गुण-विचारसे स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टिमें जातिभेद माना जाता है। नक्षत्र और ग्रह आदिका जो ब्राह्मणादि जातिनिर्णय ज्योतिष शास्त्र करता है, देवता आदिका जो जातिनिर्णय पुराण शास्त्र करता है, रत्न आदिका जो जातिनिर्णय पदार्थ विज्ञान करता है, उद्भिज्ज तथा औषधिका जाति-निर्णय जो आयुर्वेद शास्त्र करता है, ये सब गुण-भेदसे ही उक्त शास्त्रोंने जातिनिर्णय किये हैं ॥ १२३ ॥

पुरुषधर्मके सम्बन्धसे स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्तिके द्वारा पुरुष जातिके मांगल्यका वर्णन करके अब उसके सम्बन्धसे नारी जातिका माङ्गल्य वर्णन कर रहे हैं:—

स्वाभाविक संस्कारसे नारियोंका भी मंगल होता है ॥१२४॥

नारीजातिके लिये उसकी पूर्व प्रकृतिके अनुसार मूलप्रकृतिके

जातिनिर्णयो गुणसम्बन्धात् ॥ १२२ ॥
विधिदर्शनाच्च ॥ १२३ ॥
नारीष्वपि माङ्गल्यं स्वाभाविकसंस्कारात् ॥ १२४ ॥

उदाहरणसे स्वाभाविक संस्काररूपसे पातिव्रत्य धर्म ही मंगलका कारण है। जैसे आर्यपुरुषोंमें वर्णाश्रमधर्म है, वैसे ही आर्य नारियोंमें पातिव्रत्यधर्म मंगलकर है। जैसा कि मनु भगवान्‌ने कहा है:—

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञोनो व्रतंनाप्युपोषितम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

स्त्रियोंके लिये पृथक् यज्ञ, व्रत या उपवास नहीं है, वे जो पतिकी सेवा करती हैं, उसीसे उनको स्वर्ग मिलता है। यह सब दर्शनोंका एक ही सिद्धान्त है कि, द्वैतप्रपञ्चमें दो ही कारण हैं—एक मूलपुरुष और दूसरी मूलप्रकृति। प्रथमको किसी दर्शनमें आत्मा कहा है, किसीने पुरुष कहा है, किसीने ईश्वर कहा है, किसीने ब्रह्म कहा है इत्यादि, परन्तु नाम चाहे किसीने कुछ ही कहा है, लक्षण सब प्रायः एक ही मानते हैं। उसी प्रकार दूसरीके विषयमें किसीने मूलप्रकृति कहा है, किसीने ब्रह्मशक्ति कहा है, किसीने माया कहा है इत्यादि. परन्तु सबका प्रकारान्तरसे यही सिद्धान्त है कि, सृष्टिके विषयमें मूलपुरुष और मूलप्रकृति दो ही कारण हैं। उसी मौलिक सत्यके अनुसार सृष्टिलीलामें भी सर्वत्र पुरुषधारा और स्त्रीधारा दोनों देखनेमें आती हैं। जैसा कि मनुस्मृतिमें लिखा है:-

द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

वे प्रभु अपने शरीरके आधे अंशसे पुरुष और और आधेसे स्त्री बने, फिर उसमें विराट्की सृष्टिकी। चाहे उद्भिज्ज हो, चाहे स्वेदज हो, चाहे अण्डज और चाहे जरायुजयोनि हो, उसी प्रकार चाहे दैवी सृष्टि हो, चाहे मानवी सृष्टि हो, सर्वत्र पुरुष और स्त्रीका अस्तित्व विद्यमान है। सुतरां पुरुषभाव और स्त्रीभाव दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान होनेसे पुरुषमें आदि पुरुषके मौलिक भाव और स्त्रीमें आदि स्त्रीके मौलिकभाव विद्यमान रहना स्वतः सिद्ध है। यही कारण है कि, मनुष्यसृष्टिमें पुरुष अपेक्षाकृत निःसङ्ग स्वाधीन और प्रातिभाव्यसे रहित है और दूसरी ओर स्त्रीजातिमें इसके विरुद्ध सब लक्षण होना स्वतः सिद्ध है। अतः इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि, जिस प्रकार

स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्तिके द्वारा पुरुषधारा क्रमाभ्युदयको प्राप्त होकर निःश्रेयस भूमिमें पहुँचती है, उसी शैलीपर यह स्त्री-धारा भी अपने ही स्वभावके अनुकूल स्वाभाविक संस्कारको आश्रय करके उसकी क्रमाभिव्यक्तिके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकती है। पुरुषगण वर्णाश्रम सदाचारके द्वारा त्रिविध शुद्धिको नियम पूर्वक प्राप्त करते हुए क्रमशः मल, विक्षेप और आवरणसे रहित होकर मुक्तिभूमिमें पहुँचते हैं, उसी प्रकार स्त्रियां वेदोक्त पातिव्रत्य आदि स्त्रीजनोचित आचारोंको पालन करती हुई निःश्रे-यसकी ओर सुगमतासे अग्रसर हो सकती हैं। मूलप्रकृति जिस प्रकार मूलपुरुषके लिये ही परिणामिनी होती है, पुरुष निःसंग और निःष्क्रिय होनेपर भी मूलप्रकृति पुरुषके संगसे ही सृष्टि कर सकती है और परम पुरुषके लिये ही अपना अस्तित्व स्थायी रखती है, जैसा कि सांख्यदर्शनोक्त विज्ञानने सिद्ध किया है। उसी मौलिक स्वाभाविक संस्कारके अनुकूल पुरुषार्थ करनेपर नारीजाति मंगलको प्राप्त कर सकती है॥ १२४॥

नारीजातिमें स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्ति कैसे होती है सो कहा जाता है:—

उसमें एक तत्त्व और तप द्वारा उसकी उपलब्धि होती है॥१२५॥

जिस प्रकार वर्णधर्म और आश्रमधर्मके नाना आचारोंको क्रमशः पालन करती हुई पुरुषजाति आध्यात्मिक उन्नतिसे पतित नहीं होने पाती, जैसा कि पहले विस्तारित रूपसे वर्णन किया गया है; ठीक उसी प्रकार तपोमूलक और एक तत्त्वमूलक सदाचारोंके अवलम्बन द्वारा नारीजाति स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्ति करती हुई निःश्रेयसकी ओर अग्रसर होती है और अधःपतित होने नहीं पाती है। जैसा कि मनु भगवान्‌ने कहा है:—

कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामाऽपि गृह्णीयात् पत्यौ प्रेते परस्य तु॥

तास्वेकतत्त्वतपोभ्यां तदुपगमः॥१२५॥

आसीदामरणात् क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी।
यो धर्म एक पत्नीनां काङ्क्षन्ती तमनुत्तमम् ॥
अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्।
दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम् ॥
मृते भर्त्तरि साध्वी स्त्री ब्रह्मचर्यव्रते स्थिता।
स्वर्गं गच्छत्यपुत्राऽपि यथा ते ब्रह्मचारिणः ॥

पतिकी मृत्युके अनन्तर सती स्त्री पुष्प, मूल और फल खाकर भी जीवन धारण करे, परन्तु कभी अपने पतिके सिवाय अन्य पुरुषका नाम तक नहीं लेवे। सती स्त्रीकी मृत्यु जबतक नहीं हो तबतक क्लेशसहिष्णु नियमवती एवं ब्रह्मचारिणी रहकर एक पतिव्रता सती स्त्रीका ही आचरण करे। अनेक सहस्र आकुमार ब्रह्मचारी प्रजाकी उत्पत्ति न करके भी केवल ब्रह्मचर्यके बलसे दिव्यलोकमें गये हैं। पतिके मरनेपर भी उन कुमार ब्रह्मचारियोंकी तरह जो सती ब्रह्मचारिणी बनी रहती है, उसको पुत्र न होने पर भी केवल ब्रह्मचर्यके ही बलसे स्वर्गलाभ होता है। इसी कारण नारीजातिके लिये जितने सदाचार वेद और शास्त्रोंमें वर्णित हैं वे सब एकतत्त्व और तपोमूलक ही हैं। एक ही पुरुषमें रति, संसारभरमें एकपुरुषको पुरुष और भोक्ता समझना, एक ही पुरुषकी ओर स्थिर लक्ष्य रखना इत्यादि सतीके सब धार्म्मिक नियम एकतत्व मूलक ही हैं। दूसरी ओर सतीका चलना, फिरना, उठना, बैठना, भोजन करना, वस्त्रादि धारण करना पति सेवा करना इत्यादि सब तपोमूलक है, इसमें संदेह नहीं ॥१२५॥

प्रसंगसे सतीत्वका विज्ञान स्पष्ट कर रहे हैं:—

इसी कारण नारीधर्ममें सतीभावका प्राधान्य है ॥१२६॥

पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार अब त्रिलोकपवित्रकर सतीधर्मका स्वाभाविक संस्कारानुकूल अस्तित्व केवल आर्य्यजातिमें ही कैसे रहता है, उसको स्पष्ट करनेके लिये कह रहे हैं कि, सतीत्व धर्ममें एकतत्त्व और तपकी पराकाष्ठा होनेके कारण वही आर्य्य नारियोंके

सतीभावप्राधान्यमतो नारीधर्मे ॥१२६॥

लिये आदर्श रूप है। चार तरहकी सतियोंका लक्षण जो पहले किया गया है, उससे उत्तम सतियोंकी धारणा जो उन लक्षणोंमें वर्णन है, उस पर संयम करनेसे स्वतः ही जाना जायगा कि, किस प्रकारसे सतीका अन्तःकरण एकतत्त्वकी धारणासे परिपूर्ण रहता है। उन्हीं लक्षणोंसे तथा शास्त्रोक्त सतीके आचारोंपर संयम करनेसे यह भी सिद्ध होगा कि, सती-धर्म तपोधर्मकी पराकाष्ठासे परिपूर्ण है। जैसाकि विष्णुसंहितामें लिखा है:—

"मृते भर्त्तरि ब्रह्मचर्यं तदन्वारोहणं वा"

पतिके मरनेपर सती स्त्री ब्रह्मचारिणी रहे अथवा पतिके साथ सहमृता हो। अथर्ववेदमें लिखा है कि:—

"इयं नारी पतिलोकं वृणाना....धर्मंपुराणमनुपालयन्ती"

पतिलोककी इच्छा करनेवाली सतीके लिये पातिव्रत्य धर्मके पालनकी ही आज्ञा की गई है। यह भी मानना ही पड़ेगा कि जिस जातिमें पुरुषान्तर ग्रहणका संस्कार विद्यमान है, उस मनुष्य जातिमें सतीधर्मका आदर्श रह नहीं सकता। यही आर्य्यजातिके सतीत्व धर्मका ज्वलन्त विज्ञान है ॥१२६॥

प्रसङ्गसे शंका समाधान कर रहे हैं:—

भ्रष्ट स्त्रीभी योगिनी होकर कल्याण प्राप्त कर सकती है ॥१२७॥

धर्म्माचार्यगण सर्वजीवहितकारी थे। विशेषतः सनातनधर्म सर्वजीवरक्षक होनेसे धर्मजिज्ञासुके चित्तमें ऐसी शङ्का हो सकती है कि, सतीत्व धर्म ही यदि स्त्रियोंके लिये मंगलकर है, तो पूर्व जन्मके प्रबल वेगसे अथवा अन्य किसी विशेष कारणवश यदि स्त्री-जाति सतीत्व धर्मके आदर्शसे भ्रष्ट हो जाय तो, क्या उसका मंगल नहीं होगा ? अघटनघटनापटीयसी मायाके किसी दुर्दमनीय प्रभावसे योग्य नारियां कभी स्वाभाविक सतीत्व धर्मसे रहित हो जायं तो, क्या उनका अभ्युदय और निःश्रेयसका द्वार रुद्ध हो जायगा ? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव करके कहा जाता है कि, सर्वजीवहितकर धर्म किसीका भी अभ्युदय तथा निःश्रेयसका द्वार रुद्ध नहीं करता है। योग्य स्त्रियां

भ्रष्टाऽपि योगिनी श्रेयोभाक ॥१२७॥

यदि दैववशात् आदर्श सती धर्मसे भ्रष्ट हो जायँ तो वे योगिनी होकर अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त कर सकती हैं। ज्ञानका आश्रय अन्तमें कर्म्मीको भी लेना पड़ता है, उपासकको भी लेना पड़ता है, क्योंकि विना ज्ञानके मुक्ति असम्भव है। यदि सतीजनोचित कर्मकाण्ड और भक्तिमार्गसे नारी कदाचित् दैवात् भ्रष्ट हो जाय, तो योगमार्गके अवलम्बन द्वारा वह निःश्रेयस पथमें अग्रसर हो सकती है। भेद इतना ही है कि सतियोंको योग साधनकी कठिनता सहन करनी नहीं पड़ती है, वे केवल एकमात्र सतीत्व धर्मके अवलम्बनसे उच्च सतीलोकको प्राप्त कर लेती हैं और वहांसे ज्ञानाधिकारमय पुरुषयोनि प्राप्त करके सुगमताके साथ निःश्रेयस भूमिकी ओर अग्रसर होती हैं। यह स्त्रियोंके लिये स्वाभाविक है। अन्यथा उनको सद्गुरुके आश्रयसे योगमार्गका अवलम्बन करके असाधारणधर्मकी सहायतासे निःश्रेयस मार्गमें अग्रसर होना पड़ता है ॥ १२७ ॥

समाधानकी पुष्टिके लिये धर्मका सर्वव्यापकत्व दिखाया जाता है:—

वह सती नहीं हो सकती है रम्भाके समान ॥ १२८ ॥

सर्वजीवहितकारी सनातनधर्म किसीको भी विमुख नहीं करता है। इस प्रसंगमें एक पौराणिक उदाहरण कहा जाता है। किसी समय किसी असुरराजने स्वर्गराज्यको जय करने पर रम्भा नामिका अप्सराको ग्रहण करना चाहा। उस दिन वह अप्सरा उस असुरराजके भ्रातृपुत्रसे वरण की गई थी। सुतरां उस स्वर्गीय वेश्याने धर्मपथका अनुसरण करके असुरराजसे प्रार्थना की थी कि "आज मैं धर्म्मानुकूल आपकी भ्रातृपुत्रवधू हूँ। आज आप मेरा त्याग करें कल आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य करूँगी" स्ववेश्याका यह सिद्धान्त उसके लिये परमधर्मप्रद था, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि उसकी वृत्ति धर्ममार्गभ्रष्ट होने पर भी असुरराजका आमन्त्रण उसने केवल धर्मके विचारसे त्याग किया था। यह धर्म्मके सार्वभौमभाव और सर्वजीवहितकारी गौरवका उपयुक्त उदाहरण है। दूसरी

सा तु नैव सती रम्भावत् ॥ १२८ ॥

और यह सिद्ध हुआ कि सतीधर्म एक विशेषधर्म है। यदि किसी कारणसे कोई योग्य स्त्री उस विशेषधर्मसे च्युत हो तो वह साधारण धर्मकी सहायतासे उस प्रकारकी आत्मोन्नति करनेमें समर्थ है; क्योंकि साधारणधर्म सर्वजीवहितकारी है और यही सनातनधर्मका सार्वभौम महत्त्व है। प्रकृत विषयको अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, सतीधर्म स्त्रीजातिका विशेषधर्म होनेके कारण सुगमसाध्य, सर्वमान्य और भयरहित है। योगिनी होना यह असाधारण धर्म होनेसे अलौकिकत्वमय है और इस सूत्रोक्त यह विज्ञान साधारण धर्मका महत्त्वप्रतिपादक है ॥ १२८ ॥

प्रसंगसे सतीधर्मकी गति कह रहे हैं :—

एकतत्त्व और तपके द्वारा सतीलोकका लाभ होता है ॥१२९॥

इससे पहले नारीधर्ममें स्वाभाविक संस्कारकी क्रमाभिव्यक्तिसे मुक्तिमार्ग सरल होनेका सिद्धान्त निर्णय किया गया है; अतः अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि वेद और वेद सम्मत सब शास्त्रोंमें ज्ञानके द्वारा मुक्ति होना निश्चय हुआ है सो पूर्वकथित सिद्धान्तके साथ उसका सामञ्जस्य कैसे सम्भव है? किस प्रकारसे सती धर्म द्वारा नारी मुक्तिको प्राप्त हो सकती है? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। सतीकी उर्द्ध्वगतिका क्रम यह है कि तपके प्रभावसे उसको स्वतः ही पञ्चम लोकरूपी सतीलोककी प्राप्ति होती है और एकतत्त्वाभ्यास द्वारा उसका अन्तःकरण योगयुक्त होकर ज्ञानार्जनके उपयोगी बन जाता है। ऐसी धार्मिका नारीको शरीरान्तके अनन्तर सतीलोककी प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है। जैसा कि महर्षि पराशर तथा दक्षने कहा है:—

> व्यालग्राही यथा व्यालं बिलादुद्धरते बलात्।
> एवमुद्धृत्य भर्त्तारं तेनैव सह मोदते ॥

सांप पकड़नेवाला जिस प्रकार बिलसे सांपको बलपूर्वक ऊपर उठा लेता है उसी प्रकार सती स्त्री अपने पतिके अधोगति प्राप्त होने पर भी उसका उद्धार करके उसके साथ सतीलोकमें दिव्यसुख लाभ करती है ॥ १२९ ॥

एकतत्त्वतपोभ्यां सतीलोकलाभः ॥ १२९ ॥

प्रसंगसे शंकासमाधान किया जाता हैः—

पतितन्मयतासे पुरुषत्वकी प्राप्ति होती है ॥ १३० ॥

अब जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है कि, चाहे तृतीय लोकरूपी स्वर्लोक हो, चाहे अन्य ऊर्द्धलोकरूपी सतीलोक हो, सभी स्वर्ग सुखभोगके लोक हैं, तो क्या सतीत्वका लक्ष्य स्वर्ग सुख भोग ही है? इस प्रकारकी ऊर्द्धगतिहोने से सतीधर्म अभ्युदयप्रद हो सकता है परन्तु मुक्तिप्रद कैसे हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जिस प्रकार भ्रमरमें तन्मय होकर अन्य कीट भ्रमरत्वको प्राप्त करता है, उसी प्रकार उन्नत श्रेणीकी सती अपने पतिमें तन्मयता प्राप्त करके पुरुषत्वको प्राप्त हो जाती है। जैसा कि स्मृति शास्त्रमें लिखा हैः—

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वमवाप्यते ॥

मनुष्य एकनिष्ठासे सद्भावको प्राप्त होता है जैसा कि भ्रमरका ध्यान करता हुआ कीडा भ्रमरत्वको प्राप्त होता है और गीतोपनिषद्में भी कहा हैः—

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

हे कौन्तेय! जिसके चित्त पर जिस वस्तुका दृढ़ संस्कार होता है उसको मरण समय उसी वस्तुकी याद आती है और वह उसी वस्तुसे जा मिलता है।

प्रथमतो पुरुषतन्मयता ही स्त्रीके लिये पुरुषत्व प्राप्तिका निश्चित कारण है। द्वितीयतः शरीर परित्याग करते समय जो भावना होती है, उसीके अनुसार गति होती है। सती चाहे सहमरण धर्मके अनुसार अग्निमें जलकर मरे अथवा पतिध्यानयुक्त होकर शरीर त्याग करे, उसका पुरुषत्व प्राप्त होना युक्तियुक्त है। दूसरी ओर सतीलोकमें भोगकी समाप्तिके अनन्तर भी पुरुषत्व-लाभ दार्शनिक विज्ञानसे सिद्ध है। विशेषतः सतीलोक ज्ञानमय लोक होनेके कारण उसको

पतिमयत्वात् पुरुषत्वम् ॥ १३० ॥

ज्ञानसे युक्त पुरुष देह मिलना भी विज्ञान विरुद्ध नहीं है और तदनन्तर ज्ञानसे युक्त पुरुष देहकी प्राप्तिसे मुक्तिका द्वार भी खुल जायगा इसमें सन्देह ही क्या है। अतः सतीधर्मकी पूर्णता नारीजातिके लिये निःश्रेयसप्रद भी है ॥ १३० ॥

पुरुषधर्म और नारीधर्मका यथाक्रम रहस्य कह कर अब सृष्टि रहस्य कहा जाता हैः—

परिणाम और सत्तामयी प्रकृति ब्रह्मवत् है ॥१३१॥

स्वाभाविक संस्कार मुक्तिका कारण है और अस्वाभाविक संस्कार बन्धनका कारण है यह पहले ही सिद्ध हो चुका है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि स्वाभाविक संस्कार के आश्रयसे अस्वाभाविक संस्कार का हान करता हुआ पुरुष अथवा स्त्री किस प्रकार से मुक्ति भूमिमें पहुंचते हैं। सुतरां जब स्वाभाविक संस्कार ही जीवोत्पत्तिका कारण है और वही पुनः मुक्तिका भी कारण है तो सृष्टिविज्ञानके साथ उसका सामञ्जस्य कैसे हो सकता है? इस प्रकारकी शंकाएं उत्पन्न ही न हो सकें इस कारण कहा जारहा है कि ब्रह्मप्रकृतिका स्वभाव परिणाम और सत्तामय है और वह ब्रह्मप्रकृति होनेसे ब्रह्मवत् ही है। यह पहले ही कहा गया है कि अहं ममेतिवत् ब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिमें भेद नहीं है। जैसा कि विष्णुपुराणमें लिखा हैः—

> शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः ।
> अभेदं चाऽनुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः ॥

प्रायः शक्ति और शक्तिमान्में भेद है ऐसा लोग कहते हैं, परन्तु तत्त्वचिन्तक योगिगण शक्ति और शक्तिमान्में अभेद देखते हैं। ब्रह्मके स्वस्वरूपमें सत् चित् और आनन्दकी अद्वैतसत्ता विद्यमान रहती है। उस समय ब्रह्मप्रकृतिका ब्रह्ममें अव्यक्तभाव अर्थात् लयावस्था रहती है। जब ब्रह्मसे ब्रह्मप्रकृति व्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है, उस समय सत्‌भावको अवलम्बन करके परिणाम दशाको प्राप्त होती है, यही प्रकृतिके व्यक्त और अव्यक्त दशाका रहस्य है।

परिणतिसत्तामयी प्रकृतिर्ब्रह्मवत् ॥ १३१ ॥

सुतरां प्रकृतिका स्वरूप सत्‌भावमय और त्रिगुण तरंगसे परिणामी होनेपर भी वह ब्रह्म ही है। अर्थात् ब्रह्मके अनादि अनन्तत्व आदि लक्षण उसमें अवश्य विद्यमान रहेंगे ॥ १३१ ॥

सृष्टिपक्षमें इससे क्या सिद्ध हुआ, सो कहा जाता है—

इस कारण जीवधारा अनादि अनन्त है ॥ १३२ ॥

जब सत्‌भावमयी ब्रह्मप्रकृति अनादि अनन्त है और त्रिगुणके कारण परिणाम उसका स्वभाव है, तो सृष्टिलीला भी अनादि अनन्त है। और इस कारण जीवधारा भी अनादि अनन्त है। हां इसमें सन्देह नहीं कि, ब्रह्माण्ड और पिण्डमय व्यष्टि सृष्टि सादि सान्त होनेसे स्वाभाविक संस्कार उद्भिज्जदशामें उत्पत्तिशील और जीवकी मुक्तिविधान करते समय लयशील है, परन्तु धारारूपसे जीवसृष्टि अनादि अनन्त है ॥ १३२ ॥

शंकासमाधान किया जाता है:—

संस्कारके सादिसान्त होनेसे उसकी मुक्ति होती है॥१३३॥

अब यदि जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो कि जब ब्रह्माण्ड-पिण्डात्मक सृष्टिधारा और जीवधारा अनादि अनन्त है, तो सृष्टिको सान्त करने वाले मुक्तिपदका उदय कैसे हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। जब यह स्वतः सिद्ध है कि संस्कार चाहे स्वाभाविक हो चाहे अस्वाभाविक, सभी सादि सान्त है, तो जीवकी मुक्ति भी स्वतः सिद्ध है। यदि किसी युक्तिसे संस्कारसमूहको नाश कर दिया जाय, तो उस महापुरुषके लिये बीजरहित हो जानेसे पुनः कर्मकी सृष्टि होना रुक जायगा और वह मुक्त हो जायगा। चाहे बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति करके संस्कारका नाश किया जाय और चाहे भर्जित बीजके सदृश संस्कारको शक्तिहीन कर दिया जाय, किसी प्रकारसे संस्कारका अन्त होते ही जीवकी मुक्ति हो जायगी ॥१३३॥

विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये संस्कारहानका क्रम कहा जाता है—

काल पाकर संस्कारका क्षय बीजवत् होता है ॥ १३४ ॥

तस्मादनाद्यनन्ता जीवधारा ॥ १३२ ॥
सादिसान्तत्वात्संस्कारस्य तन्मुक्तिः ॥ १३३ ॥
कालतः संस्कारक्षयो बीजवत् ॥ १३४ ॥

कर्मका बीज संस्कार सादि सान्त होनेसे उसके हानके कई प्रकार हैं। जिनमेंसे पहला प्रकार यह है कि जैसे संसारमें सब वस्तु काल पाकर नष्ट होती हैं, उसी प्रकार कालके ग्रासको संस्कार भी प्राप्त हो जाता है। जब जीवकी उत्पत्ति स्वाभाविक है तो जीवका लय भी स्वाभाविक होगा इसमें सन्देह नहीं। बीजके उदाहरणमें भी समझने योग्य है कि यदि किसी उद्भिज्जका बीज कैसे ही सुरक्षित किया जाय और उसे अङ्कुरोत्पत्तिका अवसर भी न दिया जाय, तो अनेक कालके बाद उस बीजमेंसे अङ्कुरोत्पत्तिकी शक्ति नष्ट हो जायगी। ऐसा देखनेमें भी आया है कि, बीज पुराना होनेसे यदि उसमें कीट नभी लगे तो वह बीज शक्तिहीन हो जाता है और उसके बोनेसे अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती। स्वाभाविक संस्कार अपने स्वभावसे ही जीवकी उत्पत्ति करता है और क्रमशः अग्रसर होता हुआ जीवको मुक्त करके हानको प्राप्त हो जाता है। स्वाभाविक संस्कारके साथ इस विज्ञानका स्वाभाविक सम्बन्ध है इस कारण इस विज्ञानको पहले कहा गया। क्योंकि स्वाभाविक संस्कार केवल कालकी सहायतासे स्वतः परिणामको प्राप्त होकर हानको प्राप्त होता है अन्य प्रकारसे नहीं होता है। अब अस्वाभाविक संस्कारका सम्बन्ध दिखाया जाता है।

जीवकी मुक्ति चाहे सहज कर्मके द्वारा जीवन्मुक्त होकर इसी शरीरमें प्राप्त हो, चाहे जैवकर्मके द्वारा शुक्लगतिसे सप्तमलोकमें प्राप्त हो और चाहे ऐश कर्म द्वारा उन्नत देवाधिकारमें प्राप्त हो, उन दशाओंमें उसका सञ्चित कर्म उसको त्याग कर देता है और ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय करके कालान्तरमें हानको प्राप्त हो जाता है। जीवकी बन्धनदशामें और यहाँतक कि एकही जन्ममें काल पाकर अनेक संस्कार हानको प्राप्त हो जाते हैं। यथा-बाल्यसंस्कार यौवनमें और बाल्य तथा यौवनसंस्कार दोनों, जराग्रस्त वृद्धावस्थामें स्वतः ही हानको प्राप्त हो जाते हैं।

जिज्ञासुओंके शंकासमाधानके लिये कहा जाता है कि काल पाकर प्रधानरूपसे हानको प्राप्त होने वाला केवल स्वाभाविक संस्कार है क्योंकि केवल कालकी सहायतासे जीवभाव उत्पन्न करने वाला स्वाभाविक संस्कार काल पाकर जीवको उद्भिज्जसे

मनुष्ययोनिमें पहुँचा देता है और पुनः पूर्ण ज्ञानकी अवस्थामें उसको मुक्त करके स्वयं भी लय हो जाता है। अब पुनः इसमें यह शंका होती है कि जीवन्मुक्त अवस्थाप्राप्त जीवमें सहज कर्म के द्वारा यह दशा हो सकती है? उदाहरणरूपसे यह समझ सकते हैं कि शुकदेव, जनक, श्रीशंकराचार्य्यादि जीवन्मुक्त महात्मागण नाना अस्वाभाविक संस्कारोंको नाना जन्मोंमें भोग करते हुए जब जीवन्मुक्त पदवी प्राप्त करने वाले अन्तिम जन्ममें पहुँचे थे, तो उनका प्रारब्धसंस्कार भोग उत्पन्न करके लय हुआ था और वह अस्वाभाविक संस्कार उनकी मुक्तिका वाधक नहीं था; और दूसरी ओर उनमेंका स्वाभाविक संस्कार जिसकी गति उनके मनुष्यत्व प्राप्त होते समय रुक गई थी, वह पुनः सरल होकर विदेह मुक्तिके समय पूर्णता लाभ करके वह स्वाभाविक संस्कार लय हो गया था। अब इस प्रकारकी दशा अन्य दो प्रकारकी मुक्तावस्थामें कैसे सम्भव है? जीवन्मुक्त दशाके अतिरिक्त मुक्तिकी और दो अवस्थाएं हैं, एक ऐशकर्म द्वारा ब्रह्मा आदिककी अवस्था और दूसरी जैवकर्म द्वारा शुक्लगतिसे सूर्य्यमण्डल भेदन करने वालोंकी अवस्था। इस शंकाका समाधान यह है। प्रथमकी मीमांसा उदाहरणरूपसे की जाती है। शास्त्र कहता है कि भक्तकुल चूड़ामणि हनुमान् दूसरे कल्पमें भगवान् ब्रह्माके पदको प्राप्त होंगे। ब्रह्माजीका पद ऐश कर्मके द्वारा प्राप्त होता है और वह पद सगुण ब्रह्मका पद है अर्थात् जीव भावसे रहित है। इस दशामें महावीर जीका पूर्व्व जन्मार्जित जो प्रबल शुभ संस्कार है और वर्त्तमान सिद्धावस्थाके जो अलौकिक शुभ संस्कार हैं, वे सब साथमें रहकर इस महापदवीको प्राप्त करावेंगे और उनकी प्रबल तपस्याहीके संस्कारसे प्रारब्ध रूपमें परिणत होकर उनको यह महत् पदवी प्राप्त होगी; वाकी रहे हुए संस्कार ब्रह्माण्ड प्रकृतिको आश्रय करेंगे और स्वाभाविक संस्कार पूर्णताको प्राप्त होकर सगुण ब्रह्म पदवीको उत्पन्न करेगा। उसी प्रकार जैवकर्म द्वारा अति उग्र तप, दान, यज्ञादिकी सहायतासे सप्तम उर्द्ध्व लोकमें पहुंच कर सूर्य्यमण्डल भेदन करके शुक्ल गतिकी सहायतासे शरभङ्ग ऋषि और भीष्म आदिने जब मुक्तिपद की प्राप्तिकी तो उस समय भी यही उदाहरण समझने योग्य है कि शुक्लगतिको उत्पन्न करने वाले

उग्र अस्वाभाविक संस्कार थे, और उनको मुक्ति प्रदान करके स्वाभाविक संस्कार हान को प्राप्त हो गया था। तात्पर्य यह है कि जीव दशामें भी कोई कोई संस्कार इस प्रकारसे काल पाकर हानको प्राप्त होते हैं और मुक्त दशामें तो स्वाभाविक संस्कारका ज्वलन्त उदाहरण इस विज्ञानके अनुसार पाया जाता है॥ १३४॥

अब दूसरा क्रम कहा जाता हैः—

प्रतिक्रिया द्वारा अङ्कुरके समान क्षय होता है॥ १३५॥

संस्कारोंके हानका दूसरा क्रम अंकुरोत्पत्तिके उदाहरणके समान है; अर्थात् जिस प्रकार एक बीजसे अङ्कुरोत्पति हो जानेके अनन्तर वृक्ष उत्पन्न हो जाता है और बीज नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संस्कारहानका स्वाभाविक क्रम यही है कि क्रियाकी उत्पत्ति करके वह संस्कार स्वयं नष्ट हो जाता है। एक श्रेणीके जाति आयु भोगके जो संस्कार प्रारब्ध रूपको धारण करके क्रिया उत्पन्न करते हैं, उस जीवनरूपी जाति, आयु, भोगमय फलको उत्पन्न करके उस जीवनके अवसानमें वे संस्कार हानको प्राप्त हो जाते हैं। आवागमनचक्रके स्थायी रखते समय इस मृत्युलोकमें अथवा अन्य भोगलोकोंमें संस्कारका यही क्रम सर्वथा प्रबल रहता है। और मुक्तावस्थाकी पूर्व कथित तीनों जातियोंमें-जीवन्मुक्त गति, त्रिमूर्त्तिकी गति और शुक्लगतिकी अवस्थाओंमें प्रारब्ध बनकर किस प्रकारसे संस्कार हानको प्राप्त होते हैं सो पहले सूत्रमें कहा गया है॥ १३५॥

अब तीसरा क्रम कहा जाता हैः—

अन्यके द्वारा भी कीट सम्पर्कवत् क्षय होता है॥ १३६॥

संस्कारके हानके तीसरे क्रमका उदाहरण बीजका कीट सम्पर्क होनेके समान कहा जाता है। जिस प्रकार किसी बीजमें यदि घुन लग जाय तो वह बीज पुनः अङ्कुरित नहीं होता, उसी प्रकार अन्य अस्वाभाविक कारणसे यदि संस्कारकी क्रिया-उत्पन्नकारिणी शक्ति को नष्ट कर दिया जाय, तो भी संस्कारका हान हो सकता है। इससे

प्रतिक्रियातोऽङ्कुरवत्॥ १३५॥
अन्यतोऽपि कीटसम्पर्कवत्॥ १३६॥

पहले हानके दो क्रम वर्णन किये गये हैं, उन दोनोंमेंसे कालाश्रयसे जो होने-वाला हानका क्रम कहा गया है, उसका प्रधानतः सम्बन्ध स्वाभाविक संस्कारके साथ तथा मुक्तात्माकी गतिके साथ है। दूसरा स्वाभाविक क्रम जो अङ्कुरोत्पत्ति होकर माना गया है, उसका प्रधान सम्बन्ध बद्ध जीवके साथ तथा अस्वाभाविक संस्कारके सम्बन्धसे समझने योग्य है; परन्तु इस सूत्रमें वर्णन किया हुआ तीसरा क्रम केवल मुक्तात्माके साथ तथा केवल अस्वाभाविक संस्कारके साथ सम्बन्ध रखता है; अर्थात् मुक्तात्मामें अस्वाभाविक संस्कार कैसे हानको प्राप्त होते हैं, उसका यह विज्ञान है। मुक्तात्माओंमें ज्ञानाग्नि द्वारा भर्जित हो जाने पर उसके क्रियमाण-संस्कारकी अङ्कुरोत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं रहती है। जीवन्मुक्त-पदवीको प्राप्त किये हुये महापुरुषगण स्वाभाविक संस्कारके अधीन होकर तथा वासना-रहित होकर क्रिया करते रहनेपर भी उससे कर्म-बीजरूपी संस्कारकी नूतन सृष्टि नहीं होती है और कदाचित् होती भी है तो भर्जित बीजके समान होती है। जैसे किसी बीजमें कीट लग जानेसे अथवा उसे भून देनेसे उसकी सृष्टि-कारिणी क्रिया-शक्ति नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मुक्तात्माके ज्ञानाग्निद्वारा दग्ध क्रियमाण संस्कार हानको प्राप्त हो जाते हैं। शंका-समाधानके लिये कहा जाता है कि जिस प्रकार भर्जित बीजके द्वारा अङ्कुरोत्पत्ति न होनेपर भी क्षुधातुरकी क्षुधा-निवृत्ति तथा अन्नका कार्य्य सुसिद्ध हो सकता है, उसी प्रकार मुक्तात्माके क्रियमाण संस्कार कुछ क्षणके लिये स्मृतिको उत्पन्न कर सकते हैं; परन्तु कुछ ही हो जब जीवन्मुक्तमें वासनाका नाश होकर उनका मन क्लीवत्वको प्राप्त हो जाता है, तो उनके क्रियमाणकर्म सृष्टि उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होते इसमें सन्देह नहीं। जैसा कि श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।

ज्ञानरूप अग्निके द्वारा सकलकर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। उपनिषद्में भी कहा गया है:—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर हृदयकी अविद्या-ग्रन्थि खुल जाती

है, निखिल संशय नष्ट हो जाते हैं और क्रियमाण तथा सञ्चित समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं । छान्दोग्य उपनिषद्में भी लिखा है:—

"नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य
आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिच्छरीरे प्राणो युक्तः ."

जन संघोंके बीचमें उनका शरीर रहनेपर भी उनको अपने शरीरकी कुछ भी स्मृति नहीं रहती है; केवल दूसरे मनुष्य उनके शरीरको देखते रहते हैं ॥१३६॥

प्रसंगसे शंका-समाधान किया जाता है—

अनुष्ठानादिसे कर्मका निरास होता है ॥ १३७ ॥

जिज्ञासुके हृदयमें यदि यह शंका हो कि, अन्य उपायसे केवल मुक्तात्माओंमें ही संस्कारका हान होता है तो प्रायश्चित और अनुष्ठानादिकी सार्थकता बद्धजीवके लिये कैसे हो सकती है? इस प्रकारकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। अनुष्ठानादिसे संस्कार नष्ट नहीं होते; केवल संस्कारका धक्का हटा दिया जाता है । यदि प्रायश्चित्त और अनुष्ठानादि द्वारा संस्कार और कर्मका हान होता तो ऐसी शंका हो सकती थी, परन्तु ऐसा नहीं होता है। जिस प्रकार एक प्रबल गजको किसी उन्मत्त गजके साथ लड़ाकर उस उन्मत्त गजको भगाया जाता है जिससे वह हानि न करसके, ठीक उसी प्रकार अनुष्ठानादि कर्मके द्वारा अन्य कर्मोंको हटा दिया जाता है। वे अशुभ कर्म वस्तुतः हानको प्राप्त नहीं होते। वे संस्कार फलोन्मुख होनेकी शक्तिसे रहित हो जाते हैं ॥ १३७ ॥

और भी कहा जाता है—

असाधारण धर्मसे भी ॥ १३८ ॥

असाधारण धर्मकी असाधारण शक्तिसे भी इस प्रकारका निरास हो सकता है। असाधारण धर्मका लक्षण और इसका विस्तृत वर्णन पहले पादमें आ चुका है। पूर्व जन्मार्जित शुभ

अनुष्ठानादेः कर्मनिरासः ॥ १३७ ॥
असाधारणधर्मतोऽपि ॥ १३८ ॥

कर्मोंके वेगसे मनुष्यमें जब असाधारण योगशक्तिका स्वतः ही उदय होता है तब उस असाधारण और अलौकिक शक्तिके बलसे भी प्रायश्चित्तादि कर्मशक्तिके उदाहरणके अनुसार असाधारण धर्मका अधिकारी स्त्री या पुरुष कर्मका निरास कर सकता है। राजर्षि विश्वामित्र जिस प्रकार असाधारण योगशक्ति और तपः-शक्तिके प्रभावसे एक ही जन्ममें क्षत्रियसे ब्राह्मण होनेमें समर्थ हुए थे और अन्यान्य क्रमद्रष्टा महर्षियोंने उनको ऐसा ही मान लिया था, उसी प्रकार असाधारण धर्मका अधिकारी भी कर्मका निरास कर सकता है। असाधारण शक्तिसे संस्कार बदल कर महर्षि विश्वामित्रने एक बार ही क्षत्रिय संस्कारको हटा दिया था और तब उनका क्षत्रिय शरीर ब्राह्मण परमाणुओंसे युक्त हो गया था। यह असाधारण धर्मके द्वारा संस्कार-परिवर्त्तनका बड़ा उदाहरण है। उसी प्रकार नारीजातिमें सती द्रौपदीका उदाहरण समझने योग्य है। पांच पतिका सम्बन्ध एक ही जन्ममें करनेसे सतीत्व धर्मका आदर्श रह ही नहीं सकता है और न कई पुरुषोंके साथ सम्बन्ध करनेसे सतीत्व संस्कार ही रह सकता है; परन्तु पूर्वजन्मार्जित तपस्या और अलौकिक योगशक्तिके प्रभावसे सती द्रौपदी दो दो महीनेमें अपने चित्तके संस्कारराशिको उलट पुलट कर सकती थी और इस अलौकिक शक्तिके कारण एक पतिकी सेवा करते समय पूर्वपतिका संस्कार एक बार ही भूल जाती थी। चित्तपर इस प्रकार अलौकिक आधिपत्य असाधारण धर्मके प्रभावसे प्राप्त होनेसे एक देश कालमें कई पुरुषोंसे सम्बन्ध होनेपर भी सती द्रौपदीमें तीव्र सती धर्मकी धारणा बनी रही और तपोमूलक सती-धर्मको उन्होंने अलौकिक योगशक्तिसे निभाया था। इस उदाहरणसे स्त्रीजातिमें असाधारण धर्म द्वारा कर्मका निरास होना प्रमाणित होता है। इसी प्रकार पूर्वजन्मार्जित तपः-प्रभावसे यदि मनुष्य असाधारण धर्मका अधिकारी हो तो प्रायश्चित्त-शक्तिके अनुरूप वह कर्मका निरास कर सकता है ॥ १३८ ॥

अब संस्कारसे अंकुरोत्पत्तिका प्रथम प्रकार कहा जाता है—

अंकुरोत्पत्ति त्रिविध होती है भावभेदसे ॥ १३९ ॥

त्रैविध्यमङ्कुरोद्गमस्य भावभेदात् ॥ १३९ ॥

प्रथम संस्कारहानका प्रकार तदनन्तर संस्कार हटा देनेका प्रकार कहकर अब संस्काररूपी बीजसे अंकुरोत्पत्तिका प्रथम प्रकार कहा जाता है। इस संसारमें सब पदार्थ त्रिभावात्मक हैं उसी प्रकार त्रिविध सुख और त्रिविध दुःख भी होता है। आध्यात्मिक दुःख, आध्यात्मिक सुख, आधिदैविक दुःख, आधिदैविक सुख और आधिभौतिक दुःख, आधिभौतिक सुख इन छः प्रकारकी भोग-निष्पत्तिके लिये अलग अलग प्रकारकी अंकुरोत्पत्ति होती है।

इस अंकुरोत्पत्ति विज्ञानको समझनेके लिये कर्मबीजरूपी संस्कारका वैज्ञानिक रहस्य मनन करने योग्य है। प्रत्येक पिण्डके अन्तःकरणका चित्तांश एक ऐसा यन्त्र है कि, जिसमें कोई आध्यात्मिक पदार्थ हो, आधिदैविक पदार्थ हो, या आधिभौतिक पदार्थ हो, कोई मानसिक भाव हो या कोई शारीरिक भाव हो, कोई स्थूल पदार्थ हो अथवा कोई सूक्ष्म पदार्थ हो उसको उस पिण्डके अन्तःकरणके चिन्ता करते ही वह बीजरूपसे वहां अंकित हो जाता है और वह अङ्कित हुआ संस्कार चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाशव्यापी हो जाता है। इस प्रकारसे इस संसारका कोई भाव इस संसारकी कोई वृत्ति और इस संसारका कोई पदार्थ किसी पिण्डके अन्तःकरण तक पहुँचने पर वह नष्ट नहीं होता है और उसी बीजसे त्रिभावात्मक अंकुरोत्पत्ति अवश्य ही हो सकती है। वह अंकुरोत्पत्ति चाहे सुखदायी हो चाहे दुःखदायी हो। इस प्रकारसे कारणरूपसे भावराज्यकी अंकुरोत्पत्तिकी छः श्रेणी मान सकते हैं॥ १३९॥

अब दूसरा प्रकार कहा जाता है—

वह चतुर्विध होती है वर्गभेदसे॥ १४०॥

इस संसारमें वासनाका लक्ष्यरूप चतुर्वर्ग प्रसिद्ध है, यथा-काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। इन चारोंके अनुसार दुःख और सुखकी भी अलग अलग श्रेणी होती है। कामकी अप्राप्ति और कामकी प्राप्ति; अर्थकी अप्राप्ति और अर्थकी प्राप्ति; धर्मकी प्राप्तिमें असुविधा और सुविधा तथा मोक्षकी प्राप्तिमें असुविधा और सुविधा, इस प्रकारसे दूसरे प्रकारकी अंकुरोत्पत्तिके चार चार अर्थात् आठ भेद होते हैं॥१४०॥

चातुर्विध्यमपि वर्गभेदात्॥ १४०॥

प्रसङ्गसे कहा जाता है—

इसी कारण धर्मशास्त्रमें कर्मविपाक विचित्रता-पूर्ण है॥ १४१ ॥

वेद और वेदसमस्त धर्मशास्त्रोंमें पूर्व संस्कारसे अंकुरोत्पत्तिरूप कर्मविपाकके स्वरूप अति विचित्रता-पूर्ण पाये जाते हैं। ऊपर कथित त्रिभावात्मक तथा चतुर्वर्गात्मक अंकुरोत्पत्तिकी श्रेणी होने पर भी उसकी विचित्रता शास्त्रोंमें बहुत कुछ पायी जाती है। त्रिभावके अनुसार तीन तरहके दुःख और वर्गके विचारसे चार तरहके दुःख इस प्रकारसे सात प्रकारकी दुःखश्रेणी हुई। इसी प्रकार भावके अनुसार तीन सुख और वर्गके अनुसार चार प्रकारके सुख इस प्रकारसे सात प्रकारकी सुखश्रेणी हुई। अतः भोगात् *अंकुरोत्पत्तिके चतुर्दशभेदकी श्रेणी हुई और इन चौदहके पुनः अनेक* भेद होते हैं। प्रथम तो त्रिगुणके भेदसे इनके अनेक भेद होंगे, पुनः कर्मके बलके तारतम्यसे अनेक विचित्र भेद बन जायेंगे। इस प्रकारसे संस्कारकी बहुत कुछ विचित्रता स्वतः ही हो जाती है। सृष्टिमें भी ऐसा वैचित्र्य देखनेमें आता है। जैसे चतुर्दश भुवनके लोक चौदह ही होनेपर भी उनमें भोगायतनरूप पिण्ड अगणित और विचित्र होते हैं उसी प्रकार अंकुरोत्पत्तिकी श्रेणी चौदह होनेपर भी उसकी विचित्रता शास्त्रोंमें बहुत कुछ पायी जाती है। उदाहरण रूपसे कुछ नीचे लिखे जाते हैंः—यथा उग्र कर्मके विषयमें—

> अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः।
> दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवयोनिशतेषु च॥
> हिंस्रा भवन्ति क्रव्यादाः कृमयोऽभक्ष्यभक्षिणः।
> परस्परादिनः स्तेनाः प्रेतान्त्यस्त्रीनिषेविणः॥
> विपाकः कर्मणां प्रेत्य केषाञ्चिदिह जायते।
> इह वामुत्र वै केषां भावस्तत्र प्रयोजनम्॥

और भी कुछ उदाहरण दिये जाते हैंः—

तस्मात्स्मृतौ वैचित्र्यं कर्मविपाकस्य॥ १४१॥

सुवर्णचौरः कौनख्यं सुरापः श्यावदन्तताम् ।
ब्रह्महा क्षयरोगित्वं दौश्चर्म्यं गुरुतल्पगः ॥
संयोगं पतितैर्गत्वा परस्यैव च योषितम् ।
अपहृत्य च विप्रस्वं भवति ब्रह्मराक्षसः ॥
हीनजातौ प्रजायेत पररत्नापहारकः ।
मणिमुक्ताप्रवालानि हृत्वा लोभेन मानवः ॥
विविधानि च रत्नानि जायते हेमकर्त्तृषु ॥
यः स्वनारीं परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्भवाम् ।
परदाररता वा स्यादन्यां वा कुरुते स्त्रियम् ॥
सोऽन्यजन्मनि देवेशि ! स्त्रीभूत्वा विधवा भवेत् ।
या नारी तु पतिं त्यक्त्वा मनोवाक्कायकर्मभिः ॥
रहः करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम् ।
तेन कर्मविपाकेन सा नारी विधवा भवेत् ॥
व्यभिचारात्तु भर्तुः स्त्री लोके प्राप्नोति निन्द्यताम् ।
शृगालयोनिं प्राप्नोति पापरोगैश्च पीड्यते ॥
कूटसाक्षी भवेन्मूकः काणः स्यात् पंक्तिभेदकः ।
अनोष्ठः स्याद्विवाहघ्नो जन्मान्धः पुस्तकं हरेत् ॥
गोब्राह्मणपदाघातात्खञ्जः पंगुश्च जायते ।
गद्गदोऽनृतवादी स्यात्तच्छ्रोता बधिरो भवेत् ॥
विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥
आत्मज्ञः शौचवान् दाता तपस्वी विजितेन्द्रियः ।
धर्मविद्वेदविद्यावित्सात्त्विको देवयोनिताम् ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥
हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि, देवः शक्रः कर्म्मणा श्रैष्ठ्यमाप ॥
बृहस्पतिर्ब्रह्मचर्यं चचार, समाहितः संशितात्मा यथावत् ।
हित्वा सुखं प्रतिरुद्धयेन्द्रियाणि, तेन देवानामगमद्गौरवं सः ॥
"अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।"

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।"
"अहिंसया च भूतानां परमायुः प्रवर्द्धते।"
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥
वेदाभ्यासतपोज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः।
अहिंसागुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।

मनुष्य उग्र मानसिक कर्मके दोषसे अन्त्यजयोनि, वाचनिक-दोषसे पक्षीयोनि और शारीरिक दोषसे वृक्षादि योनिको प्राप्त करता है। हिंसापरायण जीव मांसखानेवाली मार्जारादि योनि, अभक्ष्य भक्षण करने वाले कीटयोनि, चोर परस्पर मांस खानेवाले जीवोंकी योनि और अन्त्यज-स्त्री-सेवी प्रेतयोनिको प्राप्त होते हैं। भावके तारतम्यानुसार कर्मफल कहीं इस लोकमें कहीं परलोकमें और कहीं दोनों ही लोकोंमें प्राप्त होते हैं।

सोनाचोर कुनखी, मदिरापानकारी श्यावदन्ती, ब्रह्महत्या-कारी क्षयरोगी और गुरुपत्नीगामी जघन्य चर्मरोगग्रस्त होता है। पतितोंके साथ संसर्ग करने वाला, परस्त्री गमन करने वाला, ब्राह्मणके धनको हरण करनेवाला ब्रह्मराक्षस होता है। दूसरेके धनको चुरानेवाला नीच जातिमें पैदा होता है। लोभसे मणि, मुक्ता और प्रवाल (मूंगा) का हरण करने वाला सोनार होता है। जो सत् कुलोत्पन्न अपनी निर्दोष स्त्रीको छोड़कर परस्त्रीमें अथवा दूसरी स्त्रीमें मन लगाता है वह दूसरे जन्ममें स्त्री होकर वैधव्यको प्राप्त करता है। जो स्त्री मन, वचन कर्मसे अपने पति देवको छोड़कर एकान्तमें जार अथवा पुरुषान्तर ग्रहण करती है, उसीके पापसे वह स्त्री परजन्ममें विधवा होती है। व्यभिचार करनेसे स्त्री इस लोकमें निन्दाका पात्र बनती है और परजन्ममें श्रृगाली होती है तथा पाप रोगोंसे पीड़ित होती है। झूठ गवाही देने वाला गूंगा, पंक्ति भेद करने वाला काना, विवाहमें विघ्न करने

वाला कोढ़का और पुस्तक चुरानेवाला जन्मान्ध होता है। गौ और ब्राह्मणको पैरसे मारनेवाला लङ्गड़ा और दोनों पैर हीन होता है। झूठ बोलनेवाला स्खलितकण्ठ और सुननेवाला बहिरा होता-है। विहित कर्मके न करनेसे और निन्दित कर्मके सेवनसे तथा इन्द्रियोंके वशीभूत रहनेसे मनुष्यका मोक्षमार्गसे पतन होता है। आत्माको जाननेवाला, पवित्र रहने वाला, तपस्वी, इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला, धर्म करनेवाला वेद्विद्याका जानने-वाला सात्त्विक जीव देवयोनिको प्राप्त करता है। जो सोम रस पानकर यज्ञके द्वारा स्वर्गकी प्रार्थना करते हैं, वे पुण्यमय इन्द्रलोकमें जाकर देवभोग्य दिव्य वस्तुओंको पाते हैं। देवताओंके राजा इन्द्रने अपने मनकी प्रिय वस्तु तथा सुखको त्याग करके कर्म्मके ही बलसे श्रेष्ठत्वको प्राप्त किया है। बृहस्पतिने संयतचित्त हो सुख त्याग पूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन किया अतः देवताओंमें गौरवको प्राप्त किया। अस्तेयकी प्रतिष्ठा होनेपर सब रत्न स्वयं मिलते हैं। अहिंसाकी प्रतिष्ठा हो जानेपर ऐसे योगीके सम्मुख हिंस्र जीव भी वैर भावको भूल जाते हैं। अहिंसा द्वारा जीवोंकी आयु बढ़ती है। प्रवृत्ति-प्रधान कर्मके सेवनसे देवताओंकी समता प्राप्त होती है और निवृत्ति-मूलक कर्मके सेवनसे पञ्च भूतोंको भी मनुष्य अतिक्रमण कर मुक्त हो जाता है। वेद्पाठ, तपस्या, ज्ञानसंचय, इन्द्रिय-निग्रह, किसीको कष्ट न पहुँचाना, गुरुकी सेवा आदि कर्मके करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। योगभ्रष्ट सिद्धगण पवित्र-कुल धनवानोंके यहां जन्म लेते हैं; अथवा बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही उत्पन्न होते हैं और योगके जिज्ञासु बनकर शब्दब्रह्मको अतिक्रमण करते हुए मोक्षपद्को पा लेते हैं।

ऊपर लिखित दृष्टान्तोंसे संस्कारवैचित्र्यका कुछ पता लगता है और जो अन्तर्दृष्टिसम्पन्न महद्व्यक्ति कर्मसे संस्कार और संस्कारसे कर्मका पता लगाना चाहें, वे पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार संयमकी सहायतासे लगा सकेंगे॥ १४१॥

अब संस्कारोत्पत्तिके मूल कारणका अनुसंधान किया जाता है:-

दृश्यकी जड़ता और द्रष्टाकी चेतनता संस्कारका कारण है॥१४२॥

दृश्यजाड्यद्रष्टृचितौ संस्कारनिदानम्॥ १४२॥

जैसे क्रियाकी उत्पत्ति स्वाभाविक है उसी प्रकार क्रिया-बीज-रूपी संस्कारकी उत्पत्ति भी स्वाभाविक है। इसका कारण यह है कि, दृश्यरूपिणी प्रकृति जड़ा है और द्रष्टारूपी पुरुष चिन्मय है। प्रकृति त्रिगुणमयी होनेके कारण उसमें परिणाम होना स्वभाव-सिद्ध है। जब प्रकृति परिणामिनी होती है तो उस परिणामसे जो क्रिया उत्पन्न होती है, वही कर्मशब्दवाच्य है और प्रकृतिके परिणाम-जनित कर्मको द्रष्टा पुरुष जब ईक्षण करता है तो ईक्षणके द्वारा उसमें जो कर्मकी प्रतिच्छाया पड़ती है, उसीके साथ संस्कारका सम्बन्ध है। जैसा कि, श्रुतिमें कहा है:—

"स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम्"

उन्होंने ईक्षण किया। एक मैं बहुत होऊं। पुरुष चेतन और प्रकृति जड़ा होनेसे ही ऐसा होना स्वतः-सिद्ध है।

इस सम्बन्धसे शंका यह होती है कि, पुरुष यदि निःसंग है तो उसमें प्रकृति-स्पन्दन-जनित क्रियाका सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, चाहे परमब्रह्म कहें, परमात्मा कहें, अथवा परमपुरुष कहें, निर्गुण अवस्थामें उसमें संस्कारकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि, उस समय ब्रह्म-प्रकृतिका उदय ही नहीं रहता। वह प्रकृति उस समय तुरीयावस्थामें ब्रह्ममें लीन रहती है। सगुण अवस्थामें जब प्रकृति भी रहती है तो संस्कारकी भी सिद्धि हो सकती है। भेद इतना ही है कि, इस संस्कार उत्पन्न करनेवाली प्रकृतिके दो भेद हैं; यथा—विद्या और अविद्या। संस्कार अविद्याके द्वारा जीव दशामें और विद्याकी सहायतासे ईश्वर दशामें अथवा मुक्तात्माओंमें सम्भव होता है। जीवमें अज्ञान रहनेसे जीवके अन्तःकरणमें वह संस्काररूपी कर्म-बीज सुरक्षित होता है, परन्तु मुक्तात्माओंमें ज्ञान रहनेसे उनके अन्तःकरणमें वह उदित होनेपर भी स्थायित्व नहीं प्राप्त करता। इसका रहस्य यह है कि, बद्ध जीवरूपी द्रष्टा अपने आपको प्रकृति-वत् अर्थात् दृश्यवत् अनुभव करता है; परन्तु मुक्तात्मारूपी ज्ञानी द्रष्टा अपनेको प्रकृतिसे पृथक् समझ कर जब मोहित नहीं होता है तो प्रकृति-हिल्लोल-संजात संस्कारका भी संग्रह नहीं करता है॥ १४२॥

अब क्रमोन्नतिके साथ उसका सम्बन्ध दिखा रहे हैं:—

उसकी शुद्धिसे क्रमोन्नति होती है ॥ १४३ ॥

संस्कारकी गति दो प्रकारसे मानी जाती है। एक शुद्धगति और एक अशुद्धगति। जो संस्कार आत्मभावसे भावित हो वह शुद्ध कहाता है और जो केवल इन्द्रिय आसक्तिसे जड़ित है वह अशुद्ध कहाता है। इस विज्ञानको और तरहसे भी समझ सकते हैं कि, जिस संस्कारके साथ आत्माका तेज सम्पर्कित रहता है, सूर्य्यकी ओर जिस प्रकार वाष्पराशि स्वतः खींच जाते हैं उसी प्रकार वह संस्कार स्वतः ही जीवको आत्माकी ओर ले जाता है; और जिस संस्कारके साथ केवल इन्द्रियका सम्पर्क है, वह जीवको अज्ञान और जड़त्वकी ओर नीचे ले जाता है। स्वाभाविक संस्कार तो सदा शुद्ध ही है; क्योंकि वह जिस समय प्रकट होता है, उस समय प्रकृतिके स्वभाव-सिद्ध तरङ्गकी सहायतासे प्रकट होता है और जीवकी वासनाके सम्पर्कसे सर्वथा रहित रहनेके कारण सदा शुद्ध ही रहता है। केवल अस्वाभाविक संस्कारके दो भेद होते हैं जैसा कि कहा गया है। उनमेंसे शुद्ध संस्कारके द्वारा जीव सदा क्रमोन्नतिको प्राप्त हुआ करता है और यही शुद्ध संस्कार जीवमें काम और अर्थकी वासनाको क्रमशः घटा कर धर्म और मोक्षकी प्रवृत्तिको बढ़ाता रहता है। दूसरी ओर प्रवृत्तिका रोध करके निवृत्तिका पोषण करता हुआ स्वाभाविक संस्कारका सहायक बनता है ॥ १४३ ॥

जीवोत्पत्तिके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया जाता है:—

प्रथमसे कारण उत्पन्न होता है ॥ १४४ ॥

प्रथम अर्थात् आदि संस्कार द्वारा जीवका कारण शरीर उत्पन्न होता है। प्रकृति स्वभावसे जब परिणामिनी होती रहती है; उस समय उसके ही परिणामका जो प्रभाव चिन्मय पुरुषपर पड़ता है और उस समयमें जब चिज्जड़ग्रंथिरूप जीवकी उत्पत्ति होती है,

तच्छुद्ध्या क्रमोन्नतिः ॥ १४३ ॥

आद्यात् कारणाविर्भावः ॥ १४४ ॥

उसी समय कारण शरीरकी उत्पत्ति होती है। इस कारण आदि संस्कार ही जीवके कारण शरीररूपी जीवत्वसृष्टिका कारण है। इस विज्ञानको मध्यमीमांसादर्शनने स्पष्टरूपसे कहा है यथा—

" चिज्जड़ग्रन्थिर्जीवः "

अर्थात् चित् और जड़की ग्रन्थिको जीव कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि, प्रकृति स्वभावसे ही नित्य परिणामिनी है। उसके परिणामके दो सीमा-स्थल हैं। एक पूर्णसत्त्वमयी और दूसरी पूर्ण तमोमयी सीमा। जब जगज्जननी प्रकृति पूर्ण सत्त्वसे परिणामिनी होती हुई तमोगुणकी ओर अग्रसर होती है, उस समय जीवोत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि, इस दशामें चिन्मय भावकी प्रधानता रहती है, परन्तु जब प्रकृतिके पूर्ण तमोगुणकी पराकाष्ठामें जहां केवल जड़भाव तथा अन्धकार पूर्ण है पहुँच जानेपर उसमें प्रथम परिणाम होता है अर्थात् तमोगुणकी अन्तिम सीमामें पहुँच कर पुनः चिन्मय भावकी ओर अग्रसर होनेके लिये जब प्रकृति प्रथम परिणामको प्राप्त करती है, उस समय थोड़ासा अवकाश पाते ही जो चेतनका प्रतिविम्ब जड़में पड़ता है, उससे समुद्र-तरङ्गमें अनन्त चन्द्रबिम्बके समान असंख्य जीवोंकी उत्पत्ति स्वभावसे ही हो जाया करती है। यही चित् और जड़के संयोगसे जो ग्रन्थि उत्पन्न होती है उसे जीव कहते हैं।

दैवीमीमांसा दर्शन अर्थात् मध्यमीमांसा दर्शनके इस विज्ञानके अनुसार तमकी ओरसे प्रथम परिणामके साथ प्रथम उद्भिज्ज जीवपिण्ड कैसे उत्पन्न होता है, उसका आभास मिलता है। इस प्रथम परिणाममें जो चिदाभासका आविर्भाव होता है, वहीं जीवके अन्तःकरणकी प्रथम सृष्टि होती है। इस दशामें जो चिज्जड़ग्रन्थि बनती है, वही जीवका जीवत्व है और वहां जो प्रथम संस्कार स्वतः बनता है वही स्वाभाविक संस्कार है और वही आदि संस्कार जीवके कारण शरीरको साथ ही साथ उत्पन्न करता है। प्रकृतिका स्वभाव जो अविद्या बनकर एक ओरसे जीवकी सृष्टि करता है और तरंगकी दूसरी सीमामें जाकर विद्या बनकर जीवको मुक्त करता है उसीके साथ स्वाभाविक संस्कारका सम्बन्ध है; क्योंकि स्वाभाविक संस्कार अपनी ऊर्द्ध्वगामिनी क्रियाको साथ रखकर जीवको मुक्त करके तब लय होता है ॥ १५४ ॥

लिङ्ग-शरीरके साथ उसका सम्बन्ध दिखाया जाता है:—

उसकी स्वाभाविक गति सूक्ष्म शरीरका कारण है ॥१४५॥

प्रकृतिके अपने स्वभावसे परिणामिनी होते समय चिज्जड़ग्रन्थि-की प्रथम क्रिया प्रकट होते ही जो कुछ होता है, सो पहले सूत्रमें कहा गया है। उसी स्वाभाविक परिणामसे प्रकृति तरङ्गायित होती हुई आगे बढ़कर स्वतः ही लिङ्ग-शरीरको उत्पन्न करती है। प्रथम महत्तत्त्व जो चित्कलाके सम्बन्धसे प्रकट होता है वही प्रधान कह-लाता है। दूसरे स्वाभाविक परिणाममें अहंतत्त्वका उदय होता हैं; क्योंकि कारणशरीरी जीव तब अपने आपको अद्वैत ब्रह्मसत्तासे पृथक् अनुभव करनेमें समर्थ होता है। अहंतत्त्व ही जीवके-जीवत्वको निश्चित कर देता है। उसके अनन्तर पञ्च सूक्ष्म महा-भूतकी पृथक्ताके साथ ही साथ मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका प्राकट्य होता है। साथ ही साथ प्राण और कर्मेन्द्रिय प्रकट होकर जीवको कर्मवान् बना देता है। इस प्रकारसे प्रकृतिकी स्वाभाविक क्रियाके द्वारा प्राकृतिक तरंग आगे बढ़कर ऊनविंशति तत्त्ववाला लिंग शरीर बना देता है। इस विज्ञानको दूसरे प्रकारसे भी समझ सकते हैं, कि प्रकृतिके प्रथम परिणाममें स्वतः ही आनन्द-मय कोषवाला कारण शरीर प्रकट हुआ था। अब उसके अनन्तर स्वभावसे परिणामिनी प्रकृति उस केन्द्रको आश्रय करके विज्ञान-मय कोष, मनोमयकोष और प्राणमयकोष रूपी लिङ्ग शरीर प्रकट-कर देती है ॥ १४५ ॥

प्रसङ्गसे भोगके साथ सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध दिखाया जाता है:—

वहां भोगकी स्थिति है ॥ १४६ ॥

सूक्ष्म अर्थात् लिंग शरीर जीवके लिये भोगकी सुविधा कर देता है। पञ्चतन्मात्रा रूपी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमय पञ्च सूक्ष्म भूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन आदिसे युक्त रहनेसे जीव वस्तुतः भोक्ता बन जाता है; क्योंकि सब भोगोंका अनुभव अन्तःकरण आदिके बिना नहीं हो सकता है ॥ १४६ ॥

तन्नैसर्गिकगतिः सूक्ष्महेतुः ॥ १४५ ॥

तत्र भोगः ॥ १४६ ॥

अब विशेष परिणामसे जो प्रकट होता है सो कहा जाता है:—

उसके तीव्र वेगसे स्थूल शरीर उत्पन्न होता है ॥ १४७ ॥

कारण शरीरसे लेकर सूक्ष्म शरीर पर्य्यन्त जो प्रकृतिका परिणाम होता है, वह स्वतः साधारण रूपसे होता है, परन्तु स्थूल शरीर उत्पन्न होनेके लिये जो प्रकृतिका परिणाम होता है वह विशेषरूपसे होता है। श्रुतिस्मृतियोंमें इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

"वदन् वाक्" "शृण्वन् श्रोत्रम्"।

जीवमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रियकी उत्पत्ति हुई, सुननेकी इच्छा होनेसे श्रवणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई इत्यादि श्रुति वचनोंके द्वारा भी उल्लिखित सिद्धान्त प्रमाणित होता है। श्रीमद्भागवतमें विराट् पुरुषके अभिमान द्वारा जगदुत्पत्तिके वर्णनके प्रसङ्गमें इस सिद्धान्तका सुन्दर वर्णन किया गया है। यथा:—

अन्तःशरीरं आकाशात् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः ॥
प्राणेनाक्षिपता क्षुत्तृडन्तरा जायते विभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत ॥
मुखतस्तालुनिर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततो नानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते ॥
विवक्षोर्मुखतोभूम्नोवह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः।
जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत ॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्र वायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः ॥
यदात्मनि निरालोकमात्मानञ्च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः ॥
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः ॥
वस्तुनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम्।

तत्तीव्रवेगात् स्थूलम् ॥ १४७ ॥

जिघृक्षतस्त्वङ्निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः॥
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नानाकर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम्॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः॥
निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम्।
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम्।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः॥

विराट् पुरुषके साथ मायोपाधिका सम्बन्ध होनेसे महान् अन्तराकाशमें क्रिया शक्तिका स्फुरण होने लगता है। जिससे इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति, बल और सूक्ष्म प्राणका विकाश होता है। तदनन्तर प्राणके स्पन्दनसे विराट् पुरुषमें क्षुधा तृष्णाका उदय होनेपर पिपासा और बुभुक्षाके कारण उनमें मुखकी उत्पत्ति होती है जिससे तालु और नाना रसग्राही जिह्वाका पृथक् पृथक् विकाश हो जाता है। तदनन्तर उनमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रिय और वह्निदेवताका विकाश होजाता है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियके विकाशके साथ साथ इन्द्रियचालक उन २ देवताओंका भी विकाश हो जाता है। प्राणवायुका अत्यन्त संचार तथा गन्धग्रहणकी इच्छा होनेसे घ्राणेन्द्रियका विकाश हो जाता है। अन्धकारमय महाप्रलयके गर्भसे उत्थानानन्तर उनमें देखनेकी इच्छा होनेसे चक्षुरिन्द्रियका विकाश होता है और शब्द ग्रहण तथा मृदु काठिन्यादि ज्ञानके लिये श्रवणेन्द्रिय और त्वगिन्द्रियका विकाश हो जाता है। तदनन्तर विराट्पुरुषमें नानाकर्मकी इच्छा होनेसे पाणीन्द्रिय और उसके देवता इन्द्रका विकाश होता है, एवं चलनेकी इच्छा होनेसे पादेन्द्रियका विकाश होकर यज्ञेश्वर विष्णु उसमें अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर प्रजोत्पत्ति और आनन्दकी इच्छा होनेसे उपस्थेन्द्रियका विकाश होता है जिसमें प्रजापति अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर असार अंशके त्याग करनेकी इच्छा करनेसे पायु इन्द्रियका विकाश होता है जिसमें मित्र देवता अधिष्ठान करते हैं।

चाहे स्वाभाविक संस्कारके अधीन होकर उद्भिज्जसे स्वेदज योनिमें जीव आवे, चाहे अस्वाभाविक संस्कारके अधीन होकर मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रियादि बने अथवा देवता बने, उसका स्थूल शरीर तत् तत् योनिके भोगके उपयोगी बनानेके लिये प्रकृतिको विशेषरूपसे परिणामिनी होना पड़ेगा। क्योंकि, उक्त योनियोंमें अथवा सहज मानवादि उक्त पिण्डोंमें पृथक् पृथक् भोगकी सिद्धि होनेके लिये पृथक् पृथक् स्थूल शरीरकी आवश्यकता होती है। स्थूल पञ्च भूतोंसे जो अन्नमयकोष बनता है, वही स्थूल शरीर कहलाता है। वह संस्कार-जनित तीव्र वेगसे जीवके भोगकी सुविधाके लिये प्रकट हुआ करता है॥ १४७॥ .

भावत्रयके साथ इनका सम्बन्ध दिखाया जाता है:—

ये तीनों क्रमशः अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत होते हैं॥ १४८॥

इस संसारमें सभी तीन भावोंसे युक्त हैं। दृश्य प्रपञ्चमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो इससे अलग हो। इसी नियमके अनुसार कारण शरीर अध्यात्म, लिंग शरीर अर्थात् सूक्ष्म शरीर अधिदैव और स्थूल शरीर अधिभूत है। जीव भावका मूल कारण होनेसे कारण शरीरका अध्यात्म होना स्वतः सिद्ध है। सब अवस्थामें परम सहायक, भोग और मोक्षमें अथवा आवागमनमें परमावश्यकीय होनेसे लिंग शरीरका अधिदैव होना सिद्ध होता है। और भोगका आधार तथा स्थूल भूतोंसे सम्बद्ध होनेसे स्थूल शरीर अधिभूत है यह मानना ही पड़ेगा॥ १४८॥

प्रसङ्गसे स्थूल शरीरकी विशेषता कही जाती है:—

भोगके लिये स्थूल शरीरकी अपेक्षा रहती है॥ १४९॥

स्थूल शरीरकी विशेषता यह है कि, बिना स्थूल शरीरके भोग सुसिद्ध ही नहीं होता है। यद्यपि लिंग शरीरके बिना आत्माके भोगका संग्रह असम्भव है, क्योंकि सूक्ष्म शरीरमें ही इन्द्रिय समूह और

अध्यात्ममधिदैवमधिभूतमेतत् त्रयं क्रमात्॥ १४८॥

भोगार्थं स्थूलमपेक्ष्यम्॥ १४९॥

मन सम्बन्धयुक्त हैं और विना इनके द्रष्टा और दृश्य, भोक्ता और भोग्यका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता, परन्तु भोगकी पूर्ण सिद्धि विना स्थूल शरीरके नहीं होती है। स्थूल भोगका साक्षात् सम्बन्ध जब तक स्थूल शरीरके साथ नहीं होगा, तब तक भोगकी पूर्णता कैसे हो सकती है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, एक पुष्परूपी भोग पदार्थको मनुष्य मन द्वारा चिन्ता करके भोगका आंशिक सम्बन्ध स्थापन कर सकता है; परन्तु पुष्पका रूप, गन्ध, कोमलता आदिका अनुभव तब तक नहीं हो सकता है जब तक स्थूल पुष्पका स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध न हो सके। इसी कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, भोगकी पूर्णताके लिये स्थूल शरीरकी परमावश्यकता है ॥ १४९ ॥

उसके अन्तका कारण कहा जाता है:—

इस कारण जीर्णवस्त्रवत् उसका त्याग प्रयोजनीय है ॥ १५० ॥

भोगके लिये स्थूल शरीर परमावश्यकीय होनेके कारण जीव जिस जिस लोकमें जाता है, उस उस लोकके भोगके लिये उसको वैसा ही स्थूल शरीर मिल जाता है। इसी कारण वहांका भोग समाप्त होनेपर उस स्थूल शरीरको जीव जीर्णवस्त्रके समान त्याग कर देता है। जैसा कि स्मृतियोंमें लिखा है:—

जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

जीवसे रहित यह शरीर मरता है जीव नहीं मरता है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र छोड़कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार जीव जीर्ण शरीर छोड़कर नवीन शरीर धारण करता है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि, इस मृत्युलोकमें जो पञ्चीकृत महाभूतका बना हुआ पृथिवीतत्त्वप्रधान स्थूल शरीर मिलता है, और प्रारब्धके अनुसार जो जाति, आयु, भोगादि मिलना निश्चय होता है,

---

तस्मात्त्याज्यं जीर्णवस्त्रवत् ॥ १५० ॥

उस निश्चित भोगादिके समाप्त होते ही उस पार्थिव शरीरको जीव अवश्य ही छोड़ देता है। प्रारब्धवेगसे उत्पन्न आयुके समाप्त होते ही प्रारब्धजनित एक जन्मके भोगोंकी समाप्ति भी हो जाती है। तब अगत्या उस जीवको उस स्थूल शरीरका जीर्ण वस्त्रके समान त्याग करके दूसरे नवीन वस्त्रके समान इसी लोकमें अथवा दूसरे भोग लोकमें जाकर दूसरा स्थूल शरीर ग्रहण करना पड़ता है। बिना स्थूल शरीरके भोगकी सर्वाङ्गीण सिद्धि नहीं हो सकती; इस कारण लिङ्गशरीरधारी जीवको बार बार स्थूल शरीर लेना और छोड़ना पड़ता है। उसके ग्रहण करने और छोड़नेमें प्रारब्धकर्म ही कारण होते हैं ॥ १५० ॥

मनुष्येतर योनियोंमें उसकी गति बतायी जाती है—

चतुर्विध भूतसंघोंमें यह स्वाभाविक है ॥ १५१ ॥

मनुष्यसे नीचेकी जो उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज इस प्रकार चार योनियां हैं, उनमें भोगके अर्थ स्थूल शरीरका ग्रहण करना और उसका त्याग कर देना स्वाभाविक रूपसे होता है। अर्थात् उन योनियोंमें स्थूल शरीरके ग्रहण करने और त्याग करनेमें कोई व्यक्तिगत प्रारब्धकी अपेक्षा नहीं रहती है। तात्पर्य्य यह है कि, एक उद्भिज्ज शरीर पीपल वृक्ष, अथवा एक अण्डज शरीर—मयूरपक्षीका शरीर धारण करना और त्याग करना समष्टि प्रकृतिके समष्टि नियमके अनुसार होगा। जैसा जैसा जीव स्वाभाविक संस्कारको आश्रय करके प्राकृतिक क्रमाभिव्यक्तिके नियमके अनुसार एक योनिसे दूसरी योनिमें अग्रसर होगा, उक्त योनियोंके भोगके अनुसार उक्त प्रकारका स्थूल शरीर उस जीवको स्वतः मिलता जायगा और स्वतः ही त्याग होता जायगा। इस प्रकार त्याग और ग्रहणमें कोई व्यक्तिगत प्रारब्धकी अपेक्षा नहीं रहती है। जैसा कि, बृहद् विष्णुपुराणमें लिखा है:—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम् ।
कृमिजं रुद्रलक्षञ्च पक्षिजं दशलक्षकम् ॥

एतन्नैसर्गिकं चतुर्विधभूतसंघेषु ॥ १५१ ॥

पश्वादीनां लक्षत्रिंशत् चतुर्लक्षञ्च वानरे ।
ततो हि मानुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम् ॥

जीवको मनुष्य बननेके पहले चौरासी लाख योनियां भोगनी पड़ती हैं। जिनमें स्थावर बीस लाख, अण्डज अर्थात् पक्षी तथा जलचर आदि उन्नीस लाख, कृमि आदि स्वेदज ग्यारह लाख, पश्वादि वानर पर्य्यन्त चौंतीस लाख, उसके बाद मनुष्य उत्पन्न होते हैं, उसमें कुत्सितादि दो लाख हैं ॥१५१॥

अब मनुष्य योनिके विषयमें कहा जाता है:—

मनुष्योंमें अस्वाभाविक है ॥१५२॥

मनुष्ययोनि पूर्णावयव होनेसे उसमें जाति, आयु, भोगादि प्रारब्ध कर्मके अनुसार प्राप्त हुआ करते हैं। क्योंकि मनुष्यत्व-प्राप्त जीव स्वकीय कर्मके वेगसे आवागमन चक्रमें कैसे घूमता रहता है, इसका वर्णन पहले ही भलिभांति हो चुका है। सुतरां मनुष्यका स्थूल शरीर धारण करना और उसका त्याग करना अस्वाभाविक संस्कार द्वारा उसके प्रारब्धकर्मके वेगके अनुसार होता है। प्रत्येक मनुष्यको अपने अपने प्रारब्ध कर्मके अनुसार जाति, आयु भोगादि स्वतन्त्र स्वतन्त्र रूपसे प्राप्त होते हैं। इस कारण यह अनैसर्गिकत्व सिद्ध ही है ॥१५२॥

प्रसङ्गसे और भी कहा जाता है:—

इनके अतिरिक्त पिण्ड-सम्बन्ध होनेसे अन्य योनियोंमें वैसा होता है ॥१५३॥

चतुर्विध भूतसङ्घ और मनुष्ययोनिके अतिरिक्त विभिन्न लोकोंमें अनेक प्रकारके जीव वास करते हैं। यथा, स्वर्गके किन्नर, गन्धर्व्व, देवता आदि, असुर लोकके असुरादि, पितृ लोकके पितृ आदि, इस प्रकार सुख-भोग-लोकोंके जीव और प्रेत, नरक आदि दुःख भोग लोकोंके जीव; इन सब जीवोंको भी स्थूल शरीरकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि पिण्डके बिना भोगकी समाप्ति नहीं हो सकती।

अनैसर्गिकं मनुष्येषु ॥ १५२ ॥

तथेतरेषु पिण्डसम्बन्धात् ॥ १५३ ॥

उनके स्थूल शरीरके उपादानोंमें अवश्य ही भेद होता है; परन्तु उन सब स्थानोंमें भी स्थूल शरीरकी अपेक्षा अवश्य है ॥१५३॥

प्रसङ्गसे आतिवाहिक देहका वर्णन किया जा रहा है:—

सूक्ष्म शरीरके अनुरूप आतिवाहिक होता है ॥१५४॥

इस स्थलपर जिज्ञासुके हृदयमें यह शंका हो सकती है, कि सब लोकोंमें जब स्थूल शरीरकी अपेक्षा है, तो एक जीव जब स्थूल शरीर छोड़ता है, उस समय उसकी क्या दशा होती है? एक लोकसे दूसरे लोकमें जाते समय जीव किस अवलम्बनसे जाता है? इस प्रकारकी शंकाओंका समाधान करके विज्ञानको स्पष्ट किया जाता है। एक जीव जब एक लोकसे स्थूल शरीर छोड़कर दूसरे लोकमें जाता है, तो उसको एक लोकसे दूसरे लोकमें ले जानेके सहायकरूपसे एक श्रेणीके स्थूल शरीरकी आवश्यकता होती है, उसको आतिवाहिक देह कहते हैं। वह आतिवाहिक वस्तुतः सूक्ष्मशरीरका रूपान्तर है और उसको स्थूल शरीरका भी रूपान्तर कह सकते हैं। वह एक स्थानसे दूसरे स्थानमें वहन करता है इसलिये उसको आतिवाहिक देह कहते हैं। जैसा कि, श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

यातनादेहमावृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥

जिस प्रकार राजकर्मचारी अपराधी व्यक्तिको कष्ट देते हुए ले जाते हैं, उसी प्रकार यमदूतगण पापीके आतिवाहिक देहको गलेमें फांसी लगाकर यमलोकपर्यन्त ले जाते हैं। श्रुतिमें भी लिखा है:—

प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना
यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥

प्राण तेजसे युक्त होकर जीवात्माके साथ सूक्ष्म शरीरको यथा संकल्पित लोकमें ले जाता है। उच्च लोकोंमें जानेवाले प्राणियोंके विषयमें भी मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

"एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः,
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाच-

सूक्ष्मानुरूपमातिवाहिकम् ॥१५४॥

मभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य,
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥"

तेजोमयी आहुतियां यजमानको आइये आइये यह आपका सुकृत ब्रह्मलोक है ऐसी प्रियवाणी कहती हुई सूर्यरश्मिके द्वारा ले जाती हैं। पुण्यलोकमें जानेके लिये और पापलोकमें जानेके लिये सभीको आतिवाहिक देहकी आवश्यकता होती है। परन्तु इस मृत्युलोकमें अतिशैशवावस्थाका देह जैसा स्वयं कार्य नहीं कर सकता, वैसा ही यह आतिवाहिक देह भी स्वयं कार्यकारी नहीं हो सकता। नरकादिके जाने योग्य जीवके आतिवाहिक देहको यमदूत ले जाते हैं और स्वर्गादि पुण्यमय लोकोंमें इस देहको देवदूत ले जाते हैं। उन उन लोकोंमें जाकर उन उन लोकोंके उपयोगी देह उनको पीछे मिलता है। प्राणमयकोष जब मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय-कोषको साथ लेकर अन्नमयकोषरूपी स्थूल शरीरसे निकलता है, तो उस समय उस सूक्ष्म शरीरके ऊपर एक ऐसे आवरण (लिफाफा) की आवश्यकता होती है कि जिससे उस सूक्ष्म शरीरकी रक्षा हो और साथ ही साथ जीवके एक लोकसे दूसरे लोकमें जानेमें सुविधा हो। क्रियाशक्तिप्रधान प्राणकी सहायतासे ही यह कार्य्य सम्पादित हो सकता है, इस कारण प्राणके ही उपादानसे यह आतिवाहिक देह बनता है। अतः इसको सूक्ष्म शरीरका रूपान्तर कह सकते हैं। दूसरी ओर पूर्व्वोल्लिखित गुणोंसे युक्त है इस कारण उसको एक प्रकारका स्थूल शरीर भी कह सकते ॥१५४॥

दूसरे प्रकारकी शंकाका समाधान किया जाता है:—

संसरण सूक्ष्मशरीरका होता है इसलिये ॥१५५॥

अब शंका हो सकती है कि, वस्तुतः किस शरीरविशिष्ट जीवका जन्मान्तर होता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है कि, वास्तवमें स्थूलशरीरका प्रयोजन तत् तत् भोग लोकोंमें भोगकी सिद्धिके लिये अवश्य ही होता है, परन्तु सब लोकोंमें पृथक् पृथक् प्राप्त होता है, इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, लोकान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्मशरीरधारी जीवकी ही होती है। मृत्यु-

संसृतेः सूक्ष्मस्य ॥ १५५ ॥

लोकमें पृथिवीतत्त्व-प्रधान स्थूलशरीर रहता है, प्रेतलोकमें वायुतत्त्व-प्रधान स्थूल शरीर रहता है, नरकलोकमें वृद्ध स्थूल शरीर मिलता है, स्वर्गमें तैजस और युवा स्थूल शरीर मिलता है इत्यादि रूपसे विभिन्न लोकोंका स्थूल शरीर विभिन्न प्रकारका होता है। जैसा कि, स्मृतियोंमें लिखा है—

"पिशाचप्रेतभूतानां विहाराजिरमुत्तमम्।
अन्तरिक्षं च तत् प्रोक्तं यावद् वायुः प्रवाति हि॥"

(देवी भागवत)

भूत प्रेतगण भूर्लोकके अन्तर्गत शून्यस्थानोंमें रहते हैं। इनका शरीर वायवीय होनेके कारण जहांतक वायु है वहांतक वे रह सकते हैं। मनुसंहिताके तृतीय अध्यायमें भी लिखा है कि—

"निमन्त्रितान् तु पितर उपतिष्ठन्ति तान् द्विजान्।
वायुवच्चानुगच्छन्ति तथाऽऽसीनानुपासते॥"

प्रेतत्वप्राप्त पितृगण निमन्त्रित ब्राह्मणोंके शरीरोंमें वायु शरीर धारण करके समाविष्ट होते हैं, वे इनका अनुगमन करते हैं तथा इनके बैठनेपर बैठते हैं। उक्त प्रमाणोंसे प्रेतोंका वायुतत्त्वप्रधान शरीर होना सिद्ध होता है। अब देवयोनिके शरीर तैजस एवं युवा होते हैं इसका प्रमाण दिया जाता है, जैसा कि, महाभारतके वन-पर्वमें लिखा है—

"न शोको न जरा तत्र नायासपरिदेवने।
ईदृशः स मुने लोकः स्वकर्मफलहेतुकः॥
सुकृतैस्तत्र पुरुषाः सम्भवन्त्यात्मकर्मभिः।
तैजसानि शरीराणि भवन्त्यत्रोपपद्यताम्॥"

स्वर्गलोकमें शोक, दुःख, जरा या आयासका लेशमात्र भी नहीं है। पुण्यबलसे वहां जानेवाले जीवको कर्मज तैजस शरीर प्राप्त होता है। उन उन लोकोंमें आतिवाहिक देहसे पहुंच कर उन उन शरीरोंको प्राप्त करनेवाला जीव सूक्ष्मशरीरधारी ही होता है॥१५५॥

कारण कहा जाता है:—

अस्वाभाविकसे आवागमनचक्रकी उत्पत्ति होती है॥१५६॥

अस्वाभाविकादावागमनचक्रम्॥१५६॥

जीव अपने ही कर्म्मोंके द्वारा नाना वैचित्र्य पूर्ण अस्वाभाविक संस्कार संग्रह करके आवागमनचक्रकी सृष्टि करता है। मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें असम्पूर्णता रहनेसे जगज्जननी प्रकृतिमाताकी सहायता रहती है और उन योनियोंमें जीव चक्रमें न पड़ कर उन्नति करता हुआ सीधा चला आता है। मनुष्ययोनिमें पूर्णताको प्राप्त करके जीव स्वाधीन हो जाता है और स्वाधीन होकर निरङ्कुश होता हुआ नाना प्रकारके विचित्रतापूर्ण अस्वाभाविक संस्कार संग्रह करके नाना विचित्रतापूर्ण नानाभोगलोकोंसे युक्त आवागमन चक्रकी सृष्टि करके उसमें निरन्तर घूमता रहता है। यही जीवकी बन्धन-दशाका रहस्य है ॥ १५६ ॥

प्रकृत विषयको संस्कार ज्ञानके निमित्त और भी स्पष्ट कह रहे हैं:—

राग और द्वेषके सम्बन्धसे अभिनिवेश होता है ॥१५७॥

अस्वाभाविक संस्कार जब जीव पिण्डमें प्रगट होता है, वह या तो रागके सम्बन्धके अभिनिवेश द्वारा, अथवा द्वेषके सम्बन्धके अभिनिवेश द्वारा प्रगट होता है। सबसे प्रथम उसकी दो श्रेणियां होती हैं ॥१५७॥

अब प्रथम श्रेणीके भेद कह रहे हैं:—

रागज संस्कार तनु और उदार होते हैं ॥१५८॥

रागके सम्बन्धसे जो संस्कार बनते हैं, वे या तो बहुत ही सूक्ष्म शक्ति-युक्त होते हैं, या उदार होकर प्रबल शक्ति-युक्त होते हैं ॥१५८॥

अब द्वितीय श्रेणीके भेद कह रहे हैं:—

द्वेषज संस्कार स्मृतियुक्त और विस्मृतियुक्त होते हैं ॥१५९॥

द्वेष द्वारा जो अभिनिवेश होकर संस्कार बनते हैं, वे दो श्रेणीके होते हैं। एक सुस्मृतियुक्त और दूसरे विस्मृतियुक्त। पहलेकी स्मृति रहती है, और दूसरेकी विस्मृति हो जाती है ॥१५९॥

रागद्वेषसम्बद्धोऽभिनिवेशः ॥१५७॥

तनुरुदारश्च रागः ॥१५८॥

स्मरणास्मरणयोगो द्वेषः ॥१५९॥

अब विस्मृति संस्कारकी विशेषता कही जाती है:—

विस्मृति संस्कार अंकुरोत्पत्तिमें बाधक होता है ॥१६०॥

पूर्व कथित दो रागज संस्कार और स्मृतियुक्त द्वेपज संस्कार यह तीनों नियम पूर्वक अङ्कुर उत्पन्न करते हैं परन्तु यह विस्मृति-युक्त संस्कार अङ्कुरोत्पन्न होनेमें बाधा देता है ॥१६०॥

अब योगी यदि कर्मविपाकको समझना चाहें तो उसका इङ्गित कर रहे हैं:—

विचारसमाधि द्वारा कर्मविपाक देखा जाता है ॥१६१॥

योगदर्शनमें सविकल्प समाधिके चार भेद कहे हैं यथा—वितर्कानुगत समाधि, विचारानुगत समाधि, आनन्दानुगत समाधि, और अस्मितानुगत समाधि। इन चारोंमेंसे योगी यदि चाहें, तो विचारानुगत समाधिकी सहायतासे कर्मविपाकका यथार्थ रहस्य अनुसन्धान कर सकते हैं। पूर्व कथित विज्ञानोंको लक्ष्यमें रखकर समाधि भूमिमें पहुंचता हुआ विचारानुगत समाधिका आश्रय लेनेपर इस कार्यकी सिद्धि हो सकती है। उन्नत योगिराजगण ही संस्कार ज्ञान प्राप्तिके लिये इस प्रकार प्रयत्न कर सकते हैं ॥१६१॥

उसकी सफलताका उपाय कह रहे हैं:—

विघ्नोंका अभाव होनेसे शीघ्रता होती है ॥१६२॥

योगविघ्नोंका अभाव होनेसे तब संस्कारोंमें संयम करनेवाला योगी, शीघ्रतासे सफलता प्राप्त कर सकता है। योगविघ्नोंका वर्णन बहुत कुछ योगदर्शनमें आया है। उपायप्रत्यय और भव-प्रत्ययकी अवस्थाओंके रहस्यके समझनेसे योगविघ्नका बहुत कुछ पता चल सकता है ॥१६२॥

प्रकृत विषयके प्रसंगसे उसके भेद कह रहे हैं:—

वे विघ्न पांच प्रकारके होते हैं ॥१६३॥

प्ररोहबाधो विस्मृतौ ॥१६०॥
विचारानुगमतः कर्मविपाकदर्शनम् ॥१६१॥
अन्तरायाभावे आसन्नम् ॥१६२॥
पञ्चधाऽन्तरायः ॥१६३॥

ऐसे समय जो विघ्न योगियों, और योगयुक्त अन्तःकरणोंमें उदय होते हैं योगिगण उनको पांच श्रेणीमें विभक्त करते हैं। यथा—अभिनिवेश-जनित, राग-जनित, द्वेष-जनित और अस्मिता-जनित। जिसमें अस्मिता-जनित विघ्नके दो भेद होते हैं। इस प्रकारसे सब मिलकर पांच श्रेणी है। उन्नतसे उन्नत अन्तःकरणमें भी मायाके प्रभावसे इन पांच श्रेणियोंके विघ्नोंकी सम्भावना सदा रहती है। परोपकार व्रतधारी महापुरुषों तकमें जगत् कल्याण-का अभिनिवेश और पुण्य तथा पाप पर राग-द्वेषका बना रहना स्वाभाविक है। इस कारण अघटनघटनापटीयसी महामायाके प्रभावसे अलक्षित और अनिश्चित रूपसे इस प्रकारके विघ्न उनके अति उन्नत और प्रशान्त अन्तःकरणमें भी कभी कभी प्रकट हो आते हैं। योगीकी अस्मिताकी अवस्था यद्यपि सर्वोत्तम है, तथापि उस अवस्थामें भी दो तरहके विघ्न प्रकट हो सकते हैं। इन्हीं दोनों योगविघ्नोंका अधिदैवस्वरूप श्रीसप्तशती गीतोपनिषद्में मधु कैटभ नामक दोनों असुरोंके रूपमें वर्णन किया गया है। इस अस्मिता अवस्थामें जो समाधिके दो शत्रु हैं, उन्हींके अधिदैवस्वरूपने मधु कैटभ रूपसे प्रगट होकर ब्राह्मी सृष्टिके समय ब्रह्माके समाधिस्थ अन्तः-करणको बाधा पहुंचायी थी। जो ज्ञानस्वरूप चिन्मय भगवान् विष्णु-की सहायतासे नष्ट किये गये थे। अस्मिता अवस्थामें यदि नादका अवलम्बन हो जाय, तो उस दशामें यह दो विघ्न उत्पन्न होते हैं। नादमें जब अन्तःकरण आनन्द-मोहित होकर तमोगुणमें पहुंच जाता है, यह पहली अवस्था है। इसीसे जड़ समाधिका उदय हो सकता है। दूसरी अवस्थामें नादके सम्बन्धसे जब वहिर्मुख होकर योगी लक्ष्यच्युत होता है, तब इस योगविघ्नका उदय होता है। नादके अवलम्बनसे यह दोनों प्रगट होते हैं। दोनों ही तमोगुणमय हैं। और दोनों ही समाधिके प्रबल विघ्न हैं। इस प्रकारसे इन पाचों विघ्नोंसे बचाकर संस्कारमें संयम करनेसे कर्मविपाकका पता उन्नत योगिगण लगा सकते हैं।

अङ्कुरोत्पत्तिकी भावजनित त्रिविध श्रेणी और वर्णजनित चतुर्विध श्रेणी और उनकी विचित्रताको ध्यानमें रखकर और साथ ही साथ संस्कारोत्पत्तिका मूल कारण समाधि द्वारा समझकर और अस्वाभाविक संस्कार कैसे उत्पन्न होते हैं उसका रहस्य भली भांति

जानकर यदि योगी योगविघ्नोंसे बचता हुआ विचारसमाधिकी सहायता ले, और उसमें संयम शक्तिका ठीक ठीक उदय हो, तो वह योगिराज कर्मविपाकका पता लगा सकता है। पूज्यपाद त्रिकालदर्शी महर्षिगण इसी लोकातीत योगशैलीके द्वारा कर्मबीज-रूपी संस्कारोंका पता लगा कर कर्मविपाक समझते थे और जन्म जन्मान्तरका हाल जान सकते थे। पुराणोंमें जो अनेक व्यक्तियों-के जन्म जन्मान्तरका रहस्य वर्णित है, वह सब इसी प्रकारकी योग शक्तिका फल है ॥१६३॥

अब पिण्डका निर्णय कर रहे हैं:—

सहज, मानव और देव भेदसे पिण्ड त्रिविध होता है ॥१६४॥

स्थूल शरीरको ही पिण्ड कहते हैं। अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार विज्ञानको स्पष्ट करनेके लिये स्थूल शरीरका श्रेणीविभाग दिखा रहे हैं। इस संसारमें जितने प्रकारके स्थूल शरीर होते हैं उनको तीन श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा सहजपिण्ड, मानवपिण्ड और देवपिण्ड। स्मृति शास्त्रमें और भी कहा है:—

सहजो मानवो दैवो जीवपिण्डस्त्रिधा मतः ।
मर्त्त्येभ्यश्चेतरे निम्ना भूतसङ्घाश्चतुर्विधाः ॥
यैस्तु कर्मफलं पिण्डैर्भुज्यते सहजा हि ते ।
मर्त्योपयुक्तपिण्डा हि कथ्यन्ते मानवाभिधाः ॥
दैवपिण्डाश्च ये व्याप्ता भुवनानि चतुर्दश ।
वर्त्तन्ते पितरो दैवभोगायतनरूपिणः ॥
त्रिविधा एव नन्वेते वर्त्तन्ते पाञ्चभौतिकाः ।
उपादानेषु किन्त्वेषां प्रभेदो वर्त्तते महान् ॥

अर्थात् सहज, मानव और देव रूपसे जीवपिण्ड त्रिविध होता है। सहज पिण्ड वह है जिससे मनुष्यसे इतर निम्न श्रेणीके चतुर्विध भूतसङ्घ कर्मफल भोग करते हैं। मनुष्यके उपयोगी पिण्डोंको मानवपिण्ड कहते हैं। और चतुर्दश भुवनस्थित दैवभोगायतन-

---

त्रिविधं पिण्डं सहजमानवदैवभेदात् ॥१६४॥

रूप जो पिण्ड हैं, वे देवपिण्ड कहाते हैं। ये तीनों पिण्ड ही पांच भौतिक हैं परन्तु इनके उपादानमें महान् प्रभेद है।

प्रकृतिमाताके अधीन रहकर नियमित उन्नत होनेवाले चतुर्विध भूतसङ्घके पिण्ड सहज पिण्ड कहाते हैं। आवागमनचक्रके प्रधान कारणरूप मनुष्योंके स्थूलशरीर मानवपिण्ड कहाते हैं। और चतुर्दश सूक्ष्म लाकोंके जीवोंका जो दैवीशक्तियुक्त स्थूलशरीर होता है, वे सब देवपिण्ड कहाते हैं। देवपिण्डधारी जीवोंको मातृगर्भसे जन्म नहीं लेना पड़ता है। उनमें नाना प्रकारकी विलक्षणता और दैवी शक्तियोंसे युक्त होनेसे वे देवपिण्ड नामसे अभिहित होते हैं। जैसा कि महाभारतके वनपर्वमें लिखा है।

"कर्मजान्येव मौद्गल्य ! न मातृपितृजान्युत ।
न संस्वेदो न दौर्गन्ध्यं पुरीषं मूत्रमेव वा ॥
तेषां न च रजो वस्त्रं बाधते तत्र वै मुने ।
न म्लायन्ति स्रजस्तेषां दिव्यगन्धा मनोरमाः ॥
संयुज्यन्ते विमानैश्च ब्रह्मन्नेवंविधैश्च ते ।"

स्वर्गीय जीवोंको कर्मज शरीर मिलते हैं, माता-पितासे वहां शरीर नहीं मिलता है। स्वेद, मल, मूत्र, दुर्गन्ध आदिसे वहांपर वस्त्र अपवित्र नहीं होता है। स्वर्गवासियोंके गलेमें जो दिव्य गन्ध युक्त माल्य रहता है, वह कभी मलिन नहीं होता है। वे दिव्य विमानपर चढ़कर घूमा करते हैं ॥ १६४ ॥

स्वाभाविक संस्कारके अधीन कौन पिण्ड है सो कहा जाता हैः—

उसमें सहज पिण्ड स्वाभाविक संस्कारके अधीन है ॥ १६५ ॥

प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनके साथ जिस प्रकार स्वाभाविक संस्कारका सम्बन्ध है और सहज कर्मका सम्बन्ध है, उसी प्रकार सहज पिण्डका भी सम्बन्ध है। प्रकृतिके त्रिगुणके कारण स्वभावसे ही प्रकृति स्पन्दिनी होती है, उससे स्वाभाविक संस्कार

तत्राद्यमाद्यं स्वाभाविकस्य ॥ १६५ ॥

कैसे उत्पन्न होता है सो पहले भलीभांति कहा गया है। उसी स्वाभाविक संस्कारके वेगसे चतुर्विध भूतसंघोंके चौरासी लक्ष पिण्डोंमें जीव क्रमाभिव्यक्तिके सिद्धान्तके अनुसार स्वतः ही प्रवेश करता और निकलता हुआ आगे बढ़ता है। जीवको स्वतः ही ये सब सहज पिण्डरूपी उन्नतिके सोपान उसके क्रमोन्नतिके मार्गमें प्राप्त होते रहते हैं ॥ १६५ ॥

प्रसङ्गसे शंका-समाधान किया जाता है:—

अन्य पिण्डके जीव भी भोगके लिये सहज पिण्डमें आते हैं ॥ १६६ ॥

इस विचारस्थलपर यह शंका होती है कि, सहज पिण्डके जीव यदि स्वतः प्रकृतिके स्वाभाविक तरङ्गके प्रभावसे सहज पिण्डको धारण करके प्रकट होते हैं और पुनः मृत्युको प्राप्त होकर चले जाते हैं, तो शास्त्रोंमें जो अन्य पिण्डके जीवोंका सहज पिण्डमें आकर जन्म लेनेका प्रमाण मिलता है, इसका समाधान क्या है? इस प्रकार जन्मके विषयमें श्रुतिमें भी प्रमाण मिलता है यथा—

"य इह कपूयचरणाः ते कपूयां
योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा ॥" इत्यादि।

अर्थात् मन्द कर्मके फलसे श्वान शूकर आदि योनि प्राप्त होती है। यमलार्जुन देव-पिण्डके जीव होनेपर भी व्रजमें वृक्ष हुए थे, राजा नहुष देवपिण्डधारी होनेपर भी सर्प हुए थे, इसका दार्शनिक समाधान क्या है? इस श्रेणीकी शङ्काओंका समाधान यह है कि, जीव जब पञ्चकोषकी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है, तब वह पूर्णशक्तिविशिष्ट हो जाता है। पूर्णशक्तिविशिष्ट होनेसे वह अपने तीव्र अस्वाभाविक शुभ संस्कारके बलसे जैसे उन्नतसे उन्नत लोकोंको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार अपने तीव्र अस्वाभाविक अशुभ पापसंस्कारके बलसे नरक और प्रेत लोकमें पहुँच सकता है और विशेष विशेष दण्डभोगके लिये सहज पिण्डमें आकर

अन्येतरेऽपि भोगाय ॥ १६६ ॥

अशुभ भोगोंकी समाप्ति कर सकता है। परन्तु वह भोग केवल नैमित्तिक है; उस भोगकी समाप्ति होनेपर पुनः वह जहांसे आया था उसी मानवपिण्ड अथवा देवपिण्डमें चला जाता है। इस सूत्रका "अपि" शब्द असाधारणत्व-बोधक है अर्थात् ऐसी घटना उग्र दण्डके निमित्तसे कभी कभी हुआ करती है॥ १६६॥

अस्वाभाविक संस्कारके अधीन कौन पिण्ड है सो कहा जाता है:—

द्वितीय तृतीय अस्वाभाविकके अधीन हैं॥ १६७॥

जब जीव अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोषोंकी पूर्णताको प्राप्त करके आवागमनचक्रमें घूमता रहता है, अथवा देव-श्रेणीमें पहुँच कर ऐशकर्मके अधीन होकर दैवी क्रमोन्नतिको प्राप्त करता रहता है; इन दोनों अवस्थाओंका पिण्ड अस्वाभाविक संस्कारसे बनता है। दोनोंमें उन्नत और अवनत होनेका अधिकार रहता है, दोनोंमें ही अस्वाभाविक भोगकी निष्पत्ति होती है और दोनोंमें ही स्वाधीनता रहती है। अतः दोनों पिण्डोंके जीव ही अस्वाभाविक संस्कारके बलसे अपने अपने पिण्डोंको प्राप्त करते हैं॥ १६७॥

प्रसङ्गसे जन्मान्तरका निमित्त निरूपण किया जाता है:—

संस्कारकी प्रबलता जन्मान्तरका कारण है॥ १६८॥

मनुष्यके साथ जो अस्वाभाविक संस्कार युक्त रहते हैं, वे तीन भागमें विभक्त होते हैं यथा सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। इसका प्रमाण शम्भुगीतामें मिलता है:—

> प्रारब्धं सञ्चितं कल्याः! आगामीति प्रभेदतः।
> प्रोच्यते त्रिविधं कर्म कर्मतत्त्वविशारदैः॥

प्रारब्ध, सञ्चित और आगामी अर्थात् क्रियमाण ये ही तीन प्रकारके कर्म हैं ऐसा कर्मतत्त्वके पण्डितगण कहते हैं। अनन्त

अस्वाभाविकतन्त्रे द्वितीयतृतीये॥ १६७॥

संस्कारप्राबल्यं जन्मान्तरनिमित्तम्॥ १६८॥

जन्मोंकी कर्मराशिके जो संस्कारसमूह कर्माशयमें एकत्रित रहते हैं, वे सञ्चित कहाते हैं। वर्त्तमान जन्ममें जो नवीन संस्कार संग्रह होते हैं वे क्रियमाण कहाते हैं और मनुष्यके एक जन्मके अन्त होते समय और दूसरे जन्मके प्रारम्भमें जो प्रबल संस्कार उसके साथ होकर नवीन जन्म उत्पन्न करते हैं, वे प्रारब्ध कहाते हैं। सञ्चित कर्मराशिमें जो एकजातीय संस्कार प्रबल होते हैं, वे ही नवीन जन्म उत्पन्न करते हैं। जैसे सब धातुओंके बीच यदि चुम्बकमणि रख दिया जाय, तो और सब धातु अपनी अपनी जगह पड़े रहेंगे केवल लोहेके खण्ड-समूह खींच कर उस मणिमें मिल जाएंगे, ठीक उसी प्रकार एक श्रेणीके प्रबल संस्कारसमूह जीवके साथ मिल कर नवीन शरीर उत्पन्न करते हैं। यथा, महाभारतमें—

> बालो वा यदि वा वृद्धो यत्करोति शुभाशुभम्।
> तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते॥
> यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
> तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥

इस जन्ममें जिस अवस्थासे शुभाशुभ कर्म जीव करता है, आगेके जन्ममें उसी अवस्थामें उसका फलभोग होता है। हजारों गायोंमें जिस प्रकार वत्स अपनी माताको पहचान लेता है, उसी प्रकार प्रारब्धकर्म अपने कर्त्ताका अनुगमन करता है॥ १६८॥

अब प्रकृत-विषयमें शंका-समाधान कर रहे हैं:—

संस्कारकी विचित्रताके कारण उसका प्रामाण्य है॥१६९॥

जन्मान्तरके अस्तित्वके विषयमें यदि जिज्ञासुको शंका हो, इस कारण महर्षि सूत्रकार प्रमाण दे रहे हैं कि, जन्मान्तरका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि, प्रत्येक मनुष्यमें संस्कारकी विचित्रता पृथक् पृथक् होती है। इस कारण मानना ही पड़ेगा कि, इसका कोई पूर्व कारण है और वही पूर्व कारण कर्मका बीज संस्कार है॥ १६९॥

तत्प्रामाण्यं संस्कारवैचित्र्यात्॥ १६९॥

विज्ञानको और भी स्पष्ट कर रहे हैं:—

क्रियावैचित्र्यके कारण यह जाना जाता है ॥ १७० ॥

यदि शंकामें यह शंका हो कि, संस्कारवैचित्र्यका प्रमाण क्या है ? ऐसी शंकाके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। प्रत्येक मनुष्यमें वैचित्र्यपूर्ण कर्मबीजरूपी संस्कारोंका पृथक् पृथक् होना प्रमाणित इसलिये होता है कि, प्रत्येक मनुष्यमें क्रिया पृथक् पृथक् दिखायी देती है। इस संसारमें कोई राजा, कोई प्रजा, कोई पूर्णाङ्ग, कोई विकलाङ्ग, कोई धनी, कोई दरिद्र, कोई सुन्दर, कोई कुत्सित, कोई नीरोग, कोई चिररोगी, कोई अल्पायु, कोई दीर्घायु, कोई बुद्धिमान, कोई मन्दमति, कोई ब्राह्मण, कोई शूद्र, कोई सुखी कोई दुःखी इस प्रकारसे पूर्वसंस्कारका फलरूप नाना क्रियावैचित्र्य जो मनुष्योंमें दिखायी देता है, उससे संस्कारवैचित्र्यकी सिद्धि होती है और संस्कारवैचित्र्यकी सिद्धिसे जन्मान्तरकी सिद्धि स्वतः होती है, इस कारण ऐसी शंकाका अवसर हो ही नहीं सकता है। मनुसंहितामें भी लिखा है—

> यथर्त्तुलिंगान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये ।
> स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥

अर्थात् जिस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतुओंके आगमनके समय प्रकृतिमें स्वतः ही तदनुसार वृक्ष-लतादिकोंका परिवर्त्तन हो जाता है, ऐसे ही पूर्वकर्मानुसार स्वतः ही जीवोंका जन्म तथा उनमें भिन्न-भिन्न प्रवृत्ति होने लगती है ॥ १७० ॥

अब संस्कारका फल कह रहे हैं:—

उससे जाति होती है ॥ १७१ ॥

संस्काररूपी कारणका प्रथम कार्य्य जाति है। संस्काररूपी बीजसे प्रथम क्रिया जो उत्पन्न होती है, वह जाति है। आर्य्य जाति, अनार्य्यजाति, ब्राह्मणजाति, शूद्रजाति इत्यादि ये सब प्रारब्ध

क्रियावैचित्र्यादेतज्ज्ञेयम् ॥ १७० ॥

ततो जातिः ॥ १७१ ॥

संस्कारके प्रथम फल हैं, क्योंकि त्रिगुण परिणामसे जातिका साक्षात् सम्बन्ध है। और गुणका आधार स्थूल शरीर होनेसे माता-पिताके रजोवीर्य्यकी प्रधानताके कारण जातिकी विशेषता है। और जन्मके साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध होनेके कारण उसकी सर्वोपरि विशेषता है। विशेषतः भोगके साथ भी जातिका बड़ा भारी सम्बन्ध है, क्योंकि जिस जातिके पिण्डमें जीव जन्म-ग्रहण करता है, उसमें यथायोग्य रजोवीर्य्यके द्वारा इस प्रकारके अधिकार प्राप्त होते हैं, जिससे भोगके अनुभवमें अनेक विचित्रता उत्पन्न हो जाती है। अनार्य्यजातिके आचारके अनुभवमें और आर्य्यजातिके आचारके अनुभवमें दिन और रातकासा प्रभेद होगा। धार्मिक ब्राह्मणके धनसम्बन्धीय अनुभवमें और कुसीद-ग्राही वैश्यके धनसम्बन्धीय अनुभवमें स्वर्ग और पातालकासा अन्तर होगा। जातिमें और विशेषता यह है कि, अभ्यासके द्वारा कर्मोंका साधारण रूपसे परिवर्त्तन हो सकता है, परन्तु जातिमें वह परिवर्त्तन नहीं हो सकता, क्योंकि जातिका जन्मसे साक्षात् सम्बन्ध हुआ करता है। इस विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, एक शूद्रजातिका मनुष्य ब्राह्मणजातिके कर्मका अभ्यास कर सकता है। परन्तु उसको पूर्वसंस्कारके अधीन उसकी विशेष जातिमें उत्पन्न होनेके कारण और अपनी जातिके रजोवीर्यके द्वारा विशेष शरीर प्राप्त करके विशेष गुणके अधिकारी होनेके कारण उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। जन्मसे विशेष सम्बन्ध रहनेके कारण उसकी जाति वही रहती है। जन्मसे जातिका अकाट्य सम्बन्ध रहनेका यह वैज्ञानिक रहस्य है। एक जातिका कर्म दूसरी जातिमें कदाचित् आ जाय, परन्तु गुण-का परिवर्त्तन नहीं हो सकता, क्योंकि सत्त्व आदि तीनों गुण रजो-वीर्यके द्वारा आकृष्ट होते हैं ॥ १७१ ॥

दूसरा फल कहा जाता है:—

आयु होती है ॥ १७२ ॥

प्रारब्ध संस्कारका दूसरा कार्य्य आयु है। वस्तुतः कर्मका

आयुः ॥ १७२ ॥

फल भोग करनेके लिये ही जीवका जन्म होता है। उस नियमित फलभोगके लिये देश और कालकी अपेक्षा रहती है। पूर्व सूत्रमें कही हुई जातिको ही देशके अन्तर्गत मान सकते हैं। योगशास्त्रोंमें भी स्थूलशरीरको देशरूपसे माना है, यथाः—

प्रकृतेर्मण्डलं यत्तद् ब्रह्माण्डं तत्समष्टितः ।
तदेव पिण्डरूपेण प्रोच्यते व्यष्टिनामतः ॥

समष्टिरूपसे प्रकृतिमण्डलरूपी ब्रह्माण्ड ही देश है और व्यष्टि-रूपसे जीवशरीर ही देश है और आयु ही कालरूप है, क्योंकि बिना कालके नियमित हुए भोगका नियम नहीं बन सकता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि, एक मनुष्यकी आयु यदि अस्सी वर्षकी नियमित हो जाय, तभी भोगका परिणाम और बाल्य, यौवन, जरा आदि अन्तर्भावोंका नियमित होना सम्भव हो सकता है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा, कि प्रारब्धके फलरूपसे आयुकी भी प्रधानता है ॥ १७२ ॥

तीसरा कहा जाता हैः—

भोग उत्पन्न होता है ॥ १७३ ॥

भोगके निमित्तसे ही जीव जन्मान्तर ग्रहण किया करता है। एक श्रेणीका भोग जब समाप्त होता है, तब जीव जीर्ण वस्त्रको त्याग करके नवीन वस्त्रपरिधानके समान एक पिण्डको छोड़कर दूसरे पिण्डको धारण करता है। संसारमें इसीको मृत्यु कहते हैं अथवा इसीको जन्मान्तर कहते हैं। इसका प्रधान कारण भोग है। इन तीनों फलोंके विषयमें योगिराज महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें कहा हैः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः ।

अर्थात् संस्कारके मूलमें रहनेसे उसके विपाकरूप जाति, आयु और भोग प्राप्त होते हैं। इन तीनोंमें भोगकी मुख्यता है, क्योंकि भोगकी समाप्तिके निमित्त ही जीवका जन्मान्तरग्रहण अथवा पिण्डान्तरग्रहण होता है। जिस प्रकार प्रकृतिका वैभव

भोगश्च ॥ १७३ ॥

अनन्त वैचित्र्यपूर्ण है, उसी प्रकार भोगवैचित्र्यकी भी सीमा नहीं है। तो भी भोगका शास्त्रकारोंने गुणविचारसे सात्त्विक, राजसिक, तामसिकरूपमें विभाग किया है और दूसरी ओर सुख, दुःख और मिश्ररूपसे भी त्रिविध श्रेणीमें विभाग किया है॥ १७३ ॥

जन्मान्तरगतिको स्पष्ट करनेके लिये कह रहे हैंः—

संस्कार-वैलक्षण्य होनेसे आतिवाहिककी विलक्षणता होती है ॥ १७४ ॥

अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि, जन्मान्तरगतिके सम्बन्धसे क्या सब जीवोंका आतिवाहिक देह एक प्रकारका ही होता है? इसका समाधान यह है कि, संस्कार विभिन्न होनेसे जीवोंके आतिवाहिक देहमें भी विभिन्नता होती है। तमोभावापन्न चतुर्विध भूतसङ्घके जीवोंका आतिवाहिक देह जड़त्वमय रहता है। जीवके मनुष्यत्व प्राप्त करनेपर आतिवाहिक देहकी वह जड़ता नष्ट हो जाती है। परन्तु इस उन्नत दशामें भी आतिवाहिक देहके अनेक भेद हो सकते हैं। जब जीवको यमदूतगण मृत्युलोकसे प्रेतलोकमें पहुँचाते हैं तब आतिवाहिक देहकी अवस्था कुछ और ही होती है और जब उसे नरकमें ले जाते हैं उस समय आतिवाहिक देहकी अवस्था अन्य प्रकारकी होती है। उसी प्रकार देवदूतोंके द्वारा देवलोकमें पहुँचाये जानेके समय उस आतिवाहिक देहकी दशा कुछ विभिन्न होती है। इस कारण यह मानना ही पड़ेगा कि, स्वाभाविक, अस्वाभाविक, शुभ, अशुभ संस्कारोंमें वैलक्षण्य होनेसे आतिवाहिक देहमें भी विलक्षणता होती है ॥ १७४ ॥

प्रसङ्गसे कहते हैंः—

आतिवाहिक शरीरसे गति होती है ॥ १७५ ॥

पहले यह सिद्ध हो चुका है कि, भोगके लिये जन्मान्तर या लोकान्तरकी प्राप्ति सूक्ष्म शरीर ही करता है और स्थूल शरीर जिस लोकका होता है, उसी लोकके प्रधान उपादानमें मिल जाता

आतिवाहिकवैलक्षण्यं संस्कारवैलक्षण्यात् ॥ १७४ ॥

संसरणमातिवाहिकेन ॥ १७५ ॥

है। अब इस सूत्रके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि, आतिवाहिक देहको अपने सूक्ष्म शरीरपर धारण कर जीव एक लोकसे लोकांतरमें जाया आया करता है। जैसा कि, भागवतमें लिखा है—

यातनादेहमावृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात्।
नयते दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटो यथा॥

जिस प्रकार राजकर्मचारी अपराधी व्यक्तिको कष्ट देते हुए ले जाते हैं उसी प्रकार यमदूतगण पापीके आतिवाहिक देहको घेरकर गलेमें फांसी लगाकर कष्ट देते हुए दूरवर्ती यमलोक पर्यन्त खींच कर ले जाते हैं। तात्पर्य यह है कि, जीव चाहे किसी लोकसे इस मृत्युलोकमें आवे अथवा इस मृत्युलोकसे किसी अन्य लोकमें जावे, अथवा किसी अन्य एक लोकसे दूसरे लोकमें जावे, इस संसरण कार्य्यमें विना आतिवाहिक देहके सुभीता नहीं हो सकता। जीव आतिवाहिक देहरूपी ढक्कनको अपने सूक्ष्म शरीरके ऊपर धारण करके संसरण करता है॥ १७५॥

लोकान्तर गतिको स्पष्ट करनेके लिये कहा जाता हैः—

मूर्च्छासे प्रेतत्व होता है॥ १७६॥

लोकान्तर गतिके विचार करते समय इस श्रेणीकी शंका हो सकती है कि, शुभ और अशुभ, पुण्य और पापके सम्बन्धसे स्वर्ग और नरक लोकोंका होना तो सुगमतासे सिद्ध होता है; परन्तु एक तीसरी दशारूप प्रेतत्व कैसे उत्पन्न होता है? और क्यों उत्पन्न होता है? इस श्रेणीकी शंकाओंके समाधानमें पूज्यपाद महर्षि सूत्रकारने इस सूत्रका आविर्भाव किया है। चतुर्दश भुवनोंमेंसे दैवी और आसुरी भोगोंके विचारसे चौदह लोक ही शुभ भोगकी समाप्तिके लिये बने हैं। भू, भुव, स्व, आदि सातों ऊर्द्ध्व लोक तो दैवी सुख भोगके लिये, और अतल, वितल, सुतल आदि सातों अधोलोक आसुरी सुख भोगके लिये बने हैं। उनमेंसे भूलोकके अन्तर्गत अपना मृत्युलोक है और इसके साथ साक्षात् सम्बन्ध रखनेवाला सुखभोगलोक जो इस लोकमें है, उसको

प्रेतत्वं मूर्च्छया॥ १७६॥

पितृलोक कहते हैं। दुःखभोगके लिये नरक लोक भी इसी लोक-के अन्तर्गत है अतः प्रेतलोककी क्या आवश्यकता सिद्ध होती है? इसका समाधान करके जन्मान्तर रहस्यको स्पष्ट करनेके लिये कहा जाता है कि, सुख और दुःखमय इन दोनों प्रकारके लोकान्तरकी गतिके अतिरिक्त प्रेतलोकमें प्रविष्ट होने योग्य एक तीसरी गति और है जिसको प्रेतत्व कहते हैं। मूर्च्छासे उसकी उत्पत्ति होती है और वह लोक मृत्युलोकका निकटस्थ है। जैसा कि, श्रुतिमें लिखा है:—

> ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
> अरायान् बस्तवासिनो दुर्गन्धीं लोहितास्यान्
> मककान् नाशयामसि ॥

जो प्रेतगण सूर्य तेज सहन करनेमें असमर्थ होकर दिनमें छिपे रहते हैं, जो देखनेमें श्राहीन, मेषचर्मधारी, रक्तमुख और दुर्गन्ध-शरीर हैं, उनका मन्त्रशक्ति तथा द्रव्यशक्तिके द्वारा नाश करेंगे। यह वेदोक्त मन्त्र प्रेतावेश छुड़ानेके लिये प्रयुक्त होता है। गीता-में भी:—

"प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः"

अर्थात् तामसो जीव भूतप्रेतकी पूजा करते हैं ऐसा कह कर प्रेत योनिकी सिद्धि की गई है। जीव जब स्थूल शरीरको छोड़ने लगता है, उस समय वह एक अन्तिम प्रबलतम संस्कारको अपने अन्तःकरणमें रखकर मानव पिण्डको छोड़ता है। जिस प्रकार सप्तधातुके बीच चुम्बकमणिके रहनेसे अन्य सब धातु अपने स्थान पर पड़े रहते हैं, केवल लोहा ही खींच जाता है; ठीक उसी प्रकार उस प्रबलतम संस्कारकी श्रेणीकी ओर बहुतसे संस्कार कर्माशयसे खींच कर प्रारब्ध बनते हैं और उन्हींके द्वारा भविष्यत्में जाति, आयु, भोग बनता है। परन्तु यदि जीवकी मृत्युके समय यह सरल गति न हो और अन्तिम प्रबलतम संस्कारको उसका अन्तःकरण पकड़ न सके तथा किसी कारण-विशेषसे मूर्च्छा आ जाय तो उस समय उस जीवकी जो गति होती है, उसको प्रेतत्व कहते हैं। प्रेतलोक भी दुःखपूर्ण लोक है, परन्तु

प्रेतोंमें ऐसी भी मूढ़ अवस्था है, जिसमें दुःख अनुभव नहीं होता है। इस कारण इस लोकको स्वर्ग और नरकसे कुछ विचित्र ही समझ सकते हैं। प्रेतत्व बहुत थोड़े समयके लिये भी हो सकता है और बहुत दीर्घ समयके लिये भी हो सकता है। अस्तु, यह सिद्ध हुआ कि, स्थूलशरीर त्याग करते समय जीवमें किसी विशेष कारणसे प्रेतत्वकी दशा उत्पन्न होती है ॥ १७६ ॥

प्रकृत विषयको और भी स्पष्ट कर रहे हैं:—

प्रेतत्वका असाधारणत्व है ॥ १७७ ॥

दुःखमय नरक लोककी गति और सुखमय नाना प्रकारके स्वर्ग लोकोंकी गतिसे यह प्रेतलोककी गति कुछ विलक्षण ही है। प्रथम तो यह सम्पूर्ण रूपसे तमोगुणाश्रित मूढ़गति है। दूसरा प्रेतलोक मृत्युलोकके ही आस पास है, इस गतिमें दूर जाना नहीं होता है। तीसरी बात यह है कि, जीव चाहे स्वर्गमें जाय, चाहे नरकमें जाय, उसको अन्य संस्कारयुक्त शरीर मिलता है, प्रेतलोकमें वैसा नहीं होता, प्रेतदेह पूर्व मृत्युलोकके देहका अनुरूप ही होता है। चौथी बात यह है कि प्रेतशरीरमें पूर्वसंस्कार सब जाग्रत रहते हैं। अन्य शरीरोंमें ऐसा नहीं होता है। इन सब कारणोंसे यह मानना ही पड़ेगा कि प्रेतलोक कुछ विलक्षण ही है ॥१७७॥

प्रसंगसे प्रेत-श्राद्धकी विशेषता कही जाती है:—

इस कारण प्रेतश्राद्धकी विशेषता है ॥१७८॥

कौन जीव प्रेत होता है और कौन नहीं होता है, यह जाना नहीं जाता, इस कारण सबके लिये प्रेतश्राद्ध करनेकी विधि कर दी गई है। मरीचि ऋषिने भी लिखा है:—

> प्रेतान् पितॄंश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः ।
> श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकीर्त्तितम् ॥

प्रेत तथा मृत पितरोंके निमित्त अपना प्रिय भोजन जिसमें

आसाधारण्यं तस्य ॥ १७७ ॥

तस्माद्वैशिष्ट्यं प्रेतश्राद्धस्य ॥१७८॥

श्रद्धाके साथ दिया जाय, उस कर्मको श्राद्ध कहते हैं। यह सब श्राद्धका शास्त्रीय लक्षण है। यही विशेषता है। विषयी लोगोंका प्रेतत्व होना प्रायः सम्भव है, इस कारण प्रेतश्राद्धकी विधि श्राद्ध-प्रणालीमें अवश्य करणीय करके मानी गई है। किसको प्रेतत्वकी प्राप्ति हुई किसको नहीं हुई, इसका निश्चय जब साधारण बुद्धिसे नहीं हो सकता है, तो प्रेतश्राद्ध करके प्रेतत्वसे विमुक्ति कर देनेका प्रयत्न अवश्य करणीय है, ऐसा धर्म्माचार्य्योंका सिद्धान्त है। वस्तुतः प्रेतत्वकी प्राप्ति मृत्युलोकसे चलते समय ही होती है, अन्य भोग लोकोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य प्रेतत्वसे विमुक्त होकर नरक तथा स्वर्गादि लोकोंमें जाता है। परन्तु उन लोकोंसे लौटते समय प्रेतलोकका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। साथ ही साथ यह भी निश्चित है, कि प्रेतत्वकी प्राप्ति अन्य लोकोंकी प्राप्तिमें एक बाधारूप है क्योंकि मूर्च्छासे उसकी उत्पत्ति होती है। इस कारण प्रेतत्वकी निवृत्तिके लिये जो कुछ उपाय निर्णित हुये हैं, उनकी अवश्य ही विशेषता होनी चाहिये ॥१७८॥

प्रसङ्गसे श्राद्धका विज्ञान कहा जाता हैः—

श्रद्धा-मूलक श्राद्ध है ॥१७९॥

प्रेतश्राद्धकी आवश्यकता सिद्ध होने पर श्राद्धके विज्ञानके विषयमें स्वतः ही जिज्ञासा हो सकती है, इस कारण कहा जाता है कि श्राद्धक्रियाके मूलमें श्रद्धा ही प्रधान है। श्रद्धासे जो मनोमय कोषमें क्रियाकी उत्पत्ति होती है, उसीके द्वारा लोकान्तरमें अन्य जीवकी तृप्ति हुआ करती है। सूक्ष्म जगत् प्राणमय, मनोमयकोष द्वारा व्याप्त है। केवल अन्नमयकोष सबलोकोंमें पृथक् पृथक् होता है। वस्तुतः अन्नमयकोष ही पिण्ड शब्द वाच्य है। यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि अन्नमयकोष यहां पड़ा रहता है और बाकी अन्य चारकोष लोकान्तरमें जाया आया करते हैं। मन सब इन्द्रियोंका राजा और चालक होनेके कारण क्रियाके विचारसे मनोमयकोषकी प्रधानता है। एक पिण्डके मनोमयकोषसे दूसरे पिण्डके मनोमयकोषका सजातीय होनेसे घनिष्ट सम्बन्ध है। इसी

श्रद्धामूलकं श्राद्धम् ॥१७९॥

कारण एक पितृलोकवासी देवता अथवा एक प्रेतलोकवासी प्रेतको श्रद्धासे स्मरण करते ही वह स्मृति उनके मनोमयकोष तक पहुँच जाती है। ध्याता और ध्येय दोनोंके मनोमयकोषके आवरण और दूरत्वको श्रद्धा दूर करती है। श्रद्धाके बलसे मृत्युलोकके मनोमयकोषकी शक्ति अन्यलोकोंके मनोमयकोष तक पहुंच जाती है और वहां पहुंच कर तृप्ति सम्पादन करती है। श्रद्धाके तीन भेद हैं यथा-सात्विक-श्रद्धा, राजसिक-श्रद्धा और तामसिक-श्रद्धा। तामसिक-श्रद्धा विश्वासप्राधान्यसे, राजसिक-श्रद्धा जिज्ञासाप्राधान्यसे और सात्विक-श्रद्धा ज्ञानप्राधान्यसे कार्य करती है। इस कारण श्राद्धमें अन्धविश्वासमयी तामसिक-श्रद्धा बहुत ही कार्य्य करती है। क्योंकि विश्वास-सहयोगिनी तामसिक श्रद्धा तुरन्त ही लोकान्तरमें द्रुतवेगसे अन्तःकरणकी सूक्ष्मगतिको पहुंचा देती है। विशेषतः श्राद्धकी क्रिया साधारणतः गृहस्थोंके लिये ही विहित है। उन्नत तत्वज्ञानी आत्माओंको श्राद्धसे लाभ प्राप्त होना न होना दोनों समान है। क्योंकि वे आत्माराम होते हैं। इस कारण संन्यासीके श्राद्धकी विधि नहीं है। आत्मज्ञानी व्यक्तिके स्मरण मात्रसे ही परलोकगामी आत्माओंको यथेष्ट शान्ति मिलती है। योगदृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि, श्राद्धमें बुलाये हुये प्रेतत्वप्राप्त जीव अथवा पितृलोकगामी जीव वैसे ही पदार्थ ग्रहण करते हैं, जैसे पदार्थ श्रद्धासे युक्त श्राद्धकारी दाता मनसे प्रदान करता है। श्राद्धक्रियामें मनःशुद्धि, वाक्यशुद्धि और द्रव्यशुद्धि इस प्रकारसे त्रिविध शुद्धिकी आवश्यकता रहती है। यथायोग्य पदार्थ द्वारा द्रव्यशुद्धि, यथायोग्य मन्त्र द्वारा वाक्य शुद्धि और श्रद्धा द्वारा मनःशुद्धि सम्पादित हुआ करती है। इन तीनोंमेंसे श्राद्धक्रियाके अलौकिकत्वके विचारसे मनःशुद्धि-प्रधान श्रद्धा ही मुख्य है॥ १७९॥

सिद्धान्तको और भी दृढ़ कर रहे हैं:—

इस कारण उसमें मानसिक क्रियाकी प्रधानता है॥१८०॥

श्रद्धा मनोधर्म होनेसे और श्रद्धाकी प्रधानता होनेसे

तत्राऽस्तो मनःक्रियाप्राधान्यम् ॥ १८० ॥

श्राद्धक्रियामें मानसिक क्रियाकी प्रधानता है, यह मानना ही पड़ेगा। सच्ची श्रद्धा मनमें प्रकट होते ही मनकी त्रिविध शुद्धि सम्पादित हो जाती है। श्रद्धासे तदाकार होकर मन पवित्र हो जाता है। श्रद्धा और भक्ति श्रीभगवानके दो चरणारविन्द हैं। अतः श्रद्धासे युक्त अन्तःकरण स्वतः भगवत् चरणारविन्दोंसे युक्त हो जाता है। सुतरां स्वतः ही श्रद्धाके द्वारा मनकी आधिभौतिक शुद्धिकी प्राप्ति होती है। मन श्रद्धासे युक्त होनेपर स्वतः ही कर्मके नियन्ता देवताओंकी कृपा प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसका सम्बन्ध दैवराज्यसे हो जाता है; तब एक पिण्डका मन दूसरे पिण्डका कार्य्यकारी होता है तो मनकी आधिदैविक शुद्धि स्वतः ही हो जाती है। और श्रद्धाके बलसे जब मन एकाग्र हो जाता है, तो उसके विक्षेपसमूह स्वतः ही लयको प्राप्त हो जाते हैं, उस क्षणमें वह जीव शिव-सायुज्यको प्राप्त करता है, यही मनकी आध्यात्मिक शुद्धि है जो श्रद्धाके द्वारा अपने आप हो जाती है। श्रद्धाके द्वारा इस प्रकारसे त्रिविध शुद्धिसे युक्त मन श्राद्धयज्ञमें नियुक्त होनेपर उस यज्ञमें मनःक्रिया-प्राधान्य होगा इसमें सन्देह ही क्या है। श्राद्धमें मनोविज्ञानका प्राधान्य है इसको अन्तर्दृष्टिसम्पन्न व्यक्ति तो प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और परलोकगामी आत्मासे सम्बन्ध स्थापन करनेवाले परलोकतत्त्ववेत्ता थोड़े ही परिश्रमसे इसका अनुभव कर लेते हैं। प्रेतगण दूरवर्त्ती होनेपर भी स्मरणमात्रसे निकटस्थ हो जाते हैं। श्राद्धतत्त्व मानसक्रियामूलक है इसी कारण जिन आत्माओंका प्रेतत्व नहीं हुआ है उनके लिये किया हुआ प्रेतश्राद्ध विफल नहीं जाती है। जिसका श्राद्ध किया जाता है, वह चाहे किसी लोकमें या किसी योनिमें हो, उसके भोगोपयोगी पदार्थ बन कर वह श्राद्धान्न उसको तत्तत् लोक तथा तत्तत् पिण्डमें सुख और तृप्ति पहुंचाता है। ताड़ितप्रवाहको अवलम्बन करके जिस प्रकार एक देशसे रूप अथवा शब्द दूसरे देशमें जाकर तत्तत् रूप अथवा शब्दमें प्रकट होता है ठीक उसी प्रकार श्राद्धान्न एक लोकसे लोकान्तरमें मनकी व्यापकशक्तिके प्रभावसे उस लोकका भोग्य पदार्थ बन जाता है। यथा स्मृतिमें—

देवो यदि पिता जातः शुभकर्मानुयोगतः ।
तस्यान्नममृतं भूत्वा देवत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
गान्धर्वे भोगरूपेण पशुत्वे च तृणं भवेत् ।
श्राद्धान्नं वायुरूपेण नागत्वेऽप्यनुगच्छति ॥
पानं भवति यक्षत्वे राक्षसत्वे तथामिषम् ।
दानवत्वे तथा मांसं प्रेतत्वे रुधिरोदकम् ॥
मानुषत्वेऽन्नपानादिनानाभोगरसो भवेत् ॥

पिताने यदि शुभकर्मके द्वारा देवयोनिको प्राप्त किया है, तो उनके निमित्त दिया हुआ श्राद्धान्न अमृतरूप होकर उनको मिलता है। इसी प्रकार गन्धर्वयोनिमें भोगरूपसे, पशुयोनिमें तृणरूपसे, नागयोनिमें वायुरूपसे, यक्षयोनिमें मद्यरूपसे, राक्षसयोनिमें आमिषरूपसे, दानवयोनिमें मांसरूपसे, प्रेतयोनिमें रुधिररूपसे और मनुष्ययोनिमें अन्नादि विविध भोज्यरूपसे श्राद्धान्न प्राप्त होता है ॥१८०॥

विज्ञानकी और भी दृढ़ता कर रहे हैं:—

इस कारण तर्पणकी विशेषता है ॥ १८१ ॥

वेदसम्मत शास्त्रोंमें तर्पणकी महिमा बहुत कुछ कही गयी है। जैसा कि शातातप स्मृतिमें लिखा है:—

तर्पणं तु शुचिः कुर्यात् प्रत्यहं स्नातको द्विजः ।
देवेभ्यश्च ऋषिभ्यश्च पितृभ्यश्च यथाक्रमम् ॥

शुचिताके साथ प्रत्यह स्नातक द्विजको यथाक्रम देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करना चाहिये। योगी याज्ञवल्क्यने भी कहा है:—

नास्तिक्यभावाद् यश्चापि न तर्पयति वै सुतः ।
पिबन्ति देहनिस्रावं पितरोऽस्य जलार्थिनः ॥

नास्तिकताके हेतु जो वंशज पुत्र तर्पण नहीं करता है उसके जलार्थी पितृगण उसके देहनिःस्रावका पान करते हैं, जिससे उसे

तस्माद्विशिष्यते तर्पणम् ॥ १८१ ॥

घोर पापमें लिप्त होना पड़ता है। पूज्यपाद धर्म्माचार्य्योंने असमर्थ साधकोंके लिये इतनी सुगमता तर्पणमें की है कि, देवराज्यसे सम्बन्धयुक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, और भूतयज्ञ इस प्रकारसे चारों महायज्ञोंका साधन एक तर्पण द्वारा पूर्ण हो सकता है। तर्पणयज्ञमें केवल मन और जलकी आवश्यकता होती है। अन्य किसी भी पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती है। इसीसे ही सिद्ध होता है कि तर्पणयज्ञमें कितने अलौकिक कार्य्य सम्पादित होते हैं। तर्पणयज्ञमें केवल श्रद्धासे युक्त होकर साधक जल मात्रके अवलम्बनसे अपने मनोमयकोषको चालित करे तो उसकी मनःशक्ति पितृलोकमें पहुँच कर पितरोंको, देवलोकमें पहुंच कर ऋषि और देवताओंको और उनके द्वारा आब्रह्मस्तम्ब पर्य्यन्त सबको तृप्त कर सकती है॥ १८१॥

प्रकृत विज्ञानको और भी दृढ़ कर रहे हैं:—

आपत्कालमें वालुपिण्डसे श्राद्ध होता है॥ १८२॥

मनःशक्ति तथा श्रद्धाकी महिमा इतनी है कि, आपत् कालमें वालुका पिण्ड देने पर भी पितरोंको तत्तत् लोकमें अन्नरूपसे मिलता है। यह भी श्रद्धा मूलक श्राद्ध-विज्ञानका प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसी शास्त्रोंमें आज्ञा है कि यदि आपत्काल हो और श्राद्धकारीके पास कुछ भी न रहे, तो वह योग्य एकान्त स्थानमें जाकर रोता हुआ यदि वालुका पिण्ड दे, तो उससे भी पितरोंकी तृप्ति होती है। वस्तुतः श्रद्धायुक्त मनके द्वारा ही श्राद्धके सब कार्य्य हो सकते हैं। और उसके द्वारा ऋषि, देवता और पितृगण कैसे तृप्त हो सकते हैं, सो पूर्व सूत्रमें प्रकाशित किया है। केवल मानस याग और श्राद्ध-विज्ञानपर साधारण लोगोंका विश्वास नहीं उत्पन्न होता है, और न उसकी मनःशक्ति साधारण उपायसे प्रकट हो सकती है, इस कारण श्राद्ध यज्ञके अन्यान्य साधन करने पड़ते हैं। नहीं तो यदि सच्ची श्रद्धासे युक्त होकर श्राद्धकारी व्यक्ति अपनी असमर्थता और अयोग्यता दिखाकर दुःखी हो तथा तीव्र श्रद्धासे वालुको अवलम्बन करके मानस पिण्ड देवे, तो भी श्राद्धका पूर्ण फल हो

सिकतापिण्डमापदि॥ १८२॥

सकता है। यह श्रद्धाकी महिमा मानसयागकी शक्तिका ही परिचायक है। शास्त्रोंमें भी कहा हैः—

उत्तमो मानसो यागो बाह्यपूजाऽधमाधमा ॥

वस्तुतः बाह्य पूजामें अर्पण की हुई वस्तु फल, पुष्प नैवेद्यादि साक्षात् रूपसे देवलोकमें नहीं पहुंच सकती है; केवल उन पदार्थों-की धारणासे युक्त होकर श्रद्धाके द्वारा संस्कृत मन उन पदार्थों-को रूपान्तरसे सूक्ष्म जगत्‌में पहुँचा देता है। बाह्य पूजामें यह विस्तृत प्रणाली कार्य्यकारी होती है। दूसरी ओर मानस याग द्वारा ये सब कार्य्य तुरन्त ही सिद्ध हो सकते हैं, परन्तु उसमें मानसिक योग्यताकी अपेक्षा अवश्य ही रहती है।

मानस यागकी श्रेष्ठताके सम्बन्धसे वालुका पिण्ड देना सिद्ध होने पर यह शंका हो सकती है कि क्या पितरोंको बालु ही मिलता है? वालुसे कैसे जीवकी तृप्ति हो सकती है? इत्यादि श्रेणीकी शंकाओंका समाधान पहिले ही किया गया है कि, वालुके पिण्ड देनेके लिये आपद्ग्रस्त श्राद्धकर्त्ता श्राद्ध नहीं करता है, वह अति दरिद्र श्राद्धकर्त्ता श्राद्धके लिये कोई भी पदार्थका प्रबन्ध न कर सकने पर वालुके अवलम्बनसे पिण्ड बनाकर मानस यागके द्वारा अपने पितरोंको तृप्त करता है। और दूसरी बात यह है कि, उस समय पितरोंकी तृप्तिके पदार्थोंको मनसे प्रदान करता है। तात्पर्य्य यह है कि ऐसे यागमें मनःसंकल्पित पदार्थोंका ही अर्पण विधेय है। अब यह शंका हो सकती है कि, शास्त्रोंमें जो लिखा है कि—

"पितरो वाक्यमिच्छन्ति भक्तिमिच्छन्ति देवताः"

इस शास्त्रवाक्यका इस विज्ञानके साथ क्या सम्बन्ध है? इस विज्ञानको समझनेके लिये सबसे प्रथम श्रद्धा और भक्ति इन दोनों-के लक्षणके समझनेकी आवश्यकता है। श्रद्धा विश्वास-मूलिका है और भक्ति अनुराग-मूलिका है। किसी क्रिया अथवा किसी देश, काल, पात्रमें दृढ़ विश्वास रहनेसे श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है। परन्तु भक्तिका मधुर प्रवाह साधकके अन्तःकरणमें तब तक

प्रवाहित नहीं हो सकता जब तक साधकका अन्तःकरण किसी इष्ट विशेषमें आसक्त न हो जाय, क्योंकि शास्त्रोंमें भक्तिके विषयमें कहा है—

"सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे"

इससे यही सिद्ध हुआ कि देवता अर्थात् इष्टदेवमें पूर्ण अनुराग होनेपर भक्ति होती है और भक्तिके द्वारा ही वे प्रसन्न होते हैं। यही उपासना-यज्ञका रहस्य है। परन्तु पितृयज्ञ श्राद्धादिका रहस्य कुछ और ही है। श्राद्धमें साधारण रीतिसे श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये वाक्यरूपी मन्त्रों पर ही विश्वास करना पड़ता है। तर्पण और श्राद्ध जैसे यज्ञोंमें मानस यागका रहस्य न जानने वाला साधारण यज्ञकर्त्ता जब तक मन्त्रोंपर दृढ़ विश्वास नहीं रक्खेगा तब तक उसका अन्तःकरण श्रद्धाकी सहायतासे त्रिविध शुद्धिको नहीं प्राप्त कर सकता है। इस कारण साधारण रीतिके अनुसार पितृयज्ञोंमें वाक्यरूपी मन्त्रोंकी ही आवश्यकता मानी गई है ॥१८२॥

पुनः प्रकृत विषयका अनुसरण किया जाता हैः—

कार्य्य कारण भेदसे संस्कार-वैचित्र्य है ॥ १८३ ॥

स्वाभाविक संस्कार एक होनेपर भी अस्वाभाविक संस्कार अनन्त वैचित्र्यपूर्ण होता है। इसका तात्पर्य्य यह है कि कारण और कार्य्यमें भेद रहा करता है। संस्कार कर्मका कारण हो जाता है और कर्म संस्कारका कारण हो जाता है। *जैसे बीज वृक्षका और वृक्ष बीजका कारण हो जाता है*; इसी प्रकार अस्वाभाविक संस्कारमें भेद पड़ते पड़ते संस्कार अनन्त वैचित्र्य-पूर्ण रूपको धारण कर लेते हैं। कुछ संस्कारके द्वारा एक नियमित जाति, आयु, भोग उत्पन्न हुआ; उस जाति, आयु, भोग-में अनन्त जाति, आयु, भोगके उपयोगी कर्म बने और उसीसे अनेक वैचित्र्यपूर्ण संस्कार संगृहीत हुए। इसी प्रकारसे संस्कारोंकी विचित्रता बढ़ जाया करती है ॥१८३॥

अब शंका-समाधान किया जाता हैः—

संस्कारवैचित्र्यं कार्य्यकारणभेदात् ॥ १८३ ॥

वह समभावापन्न होनेपर अन्योऽन्याश्रित होता है॥१८४॥

अब जिज्ञासुओंको यह शंका हो सकती है कि ऐसे वैचित्र्य पूर्ण संस्कारसे नियमित जाति, आयु, भोग कैसे होता है? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधानमें इस सूत्रका आविर्भाव हुआ है। जब संस्कार समभावापन्न होते हैं अर्थात् एक श्रेणीके होते हैं तब वे परस्पर आश्रय करने वाले होते हैं। जैसे बक और हंस-श्रेणी अन्योऽन्याश्रित होती है, उसी प्रकार समभावके संस्कार एक दूसरेके निकट पहुंचने वाले होते हैं। इसी कारण वे मिलकर एक नियमित जाति, आयु, भोगरूपी जन्मको उत्पन्न कर देते हैं। एक स्थूल शरीरपातके अनन्तर तथा दूसरे स्थूल शरीर उत्पन्न होनेसे पूर्व एक प्रबल संस्कार अपने स्वश्रेणीके कुछ संस्कारोंको समभावापन्न होनेके कारण स्वतः ही खींच लेते हैं। और तब वे सब बीजरूपका वृक्षरूप नूतन पिण्ड धारण कराकर नूतन भोगजीवन उत्पन्न कर देते हैं ॥ १८४ ॥

प्रसंगसे संस्कारशुद्धिका प्रमाण दे रहे हैं:—

संस्कार शुद्धिमें वेद प्रमाण है ॥ १८५ ॥

किस प्रकारसे संस्कारकी शुद्धि होती है, और वह शुद्ध संस्कार किस प्रकार क्रियाशुद्धि और क्रियाशुद्धिसे अभ्युदय तथा निःश्रेयसका कारण बनता है, इसके लिये वेद ही प्रमाण है। संस्कार-शुद्धिसे क्रियाशुद्धि होकर अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों हो सकता है। अस्वाभाविक संस्कार शुद्ध होकर स्वाभाविक संस्कारसे मिलकर उसके द्वारा किस प्रकार निःश्रेयस प्राप्त करा सकते हैं, किस प्रकार परिशुद्ध संस्कार आवागमन चक्रकी निवृत्ति करके कैवल्याधिगम कराता है, यह सब विषय पहले भलीभांति सिद्ध हो चुका है। अब यदि जिज्ञासुओंके हृदयमें शंका हो कि कर्मकी गति और संस्कारकी गति अति दुर्ज्ञेय है, कैसे कर्मसे कैसे संस्कार और कैसे संस्कारसे कैसे कर्म उत्पन्न होंगे और कैसे संस्कार उत्पन्न होनेसे भविष्यमें अभ्युदय

अन्योऽन्याश्रयित्वं समस्य ॥ १८४ ॥

तच्छुद्धौ वेदाः प्रमाणम् ॥ १८५ ॥

और निःश्रेयसका मार्ग सरल होगा, यह जानना लौकिक बुद्धिसे अगम्य है। इस कारण ज्ञानमय वेद ही इसमें प्रमाण हैं।

यथा स्मृतिमें—

> प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
>
> एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

प्रत्यक्ष और अनुमानके अतीत अलौकिक विषय वेदके द्वारा जाना जाता है, यही वेदका वेदत्व है। वेद तथा वेदसम्मत शास्त्र अभ्रान्त होनेसे उनके आश्रयाधीन होकर संस्कार संग्रह करते रहने पर अवश्य ही कल्याणकी प्राप्ति होती है॥ १८५॥

प्रकृत विषयको और भी दृढ़ कर रहे हैंः—

अज्ञानीका वेदके आश्रयसे श्रेय होता है॥ १८६॥

अधिकारी तीन श्रेणीके होते हैं; यथा उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम अधिकारी योगानुशासनके अधीन स्वतः ही रहते हैं, इस कारण वे सदा आत्मामें युक्त होनेसे उनके संस्कार प्रथम तो शुद्ध ही बनते हैं और दूसरे उनको बाहरके परामर्शकी आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु मध्यम राजसिक अधिकारीमें सन्देह रहनेके कारण और अधम अधिकारीमें प्रमाद रहनेके कारण उनके लिये वेदकी आज्ञा ही प्रधान अवलम्बनीय है। इसी कारण आचार और कर्ममें युक्ति और विचाररहित हो कर वेद और स्मृतिकी आज्ञा मानना उचित है। भगवान मनुने भी कहा हैः—

> श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
>
> इह कीर्त्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
>
> श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
>
> ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥

अज्ञानविहितस्य तदाश्रयाच्छ्रेयः॥ १८६॥

श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका आचरण करके मनुष्य इह लोकमें कीर्त्ति तथा परलोकमें अत्युत्तम सुखको प्राप्त करता है। श्रुति वेदको और स्मृति धर्मशास्त्रको कहते हैं। इन्हीसे धर्म प्रकाशित हुआ है, इस लिये इनके विषयमें विचार या तर्क नहीं करना चाहिये ॥ १८६ ॥

अब संस्कार-परिणामका रहस्य कह रहे हैंः—

वीजपरिणामवत् संस्कार-परिणाम होता है ॥ १८७ ॥

जिस प्रकार वीजसे अंकुर, अंकुरसे वृक्ष, वृक्षसे फल और फलसे पुनः वीज होकर वृक्षसे वीज और वीजसे वृक्षका चक्र सदा विद्यमान रहता है, उसी प्रकार संस्कारसे कर्म, कर्मसे शुभाशुभ फल, पुनः कर्म, पुनः संस्कार इस प्रकारसे चक्र सदा बना रहता है। अर्थात् एक संस्कारसे कर्म उत्पन्न होकर उस संस्कारकी विमुक्ति हो जानेपर भी वीज वृक्षका चक्र-क्रम वर्त्तमान रहता है, और जीवका आवागमन चक्र बना ही रहता है। जीव मुक्त होने नहीं पाता है ॥ १८७ ॥

अब संस्कारसे विमुक्तिका रहस्य कह रहे हैंः—

कामनाका नाश होनेपर वह भृष्टवीजवत् हो जाता है ॥ १८८ ॥

संस्कारकी ऐसी दुर्दमनीय प्रवल शक्तिको देखकर उससे बचनेके उपाय जाननेकी स्वतः ही इच्छा होती है, इस कारण कहा जाता है कि यद्यपि संस्कारकी ऐसी प्रवल बन्धनकारिणी शक्ति है, परन्तु साथ ही साथ ऐसा भी उपाय है कि जिसके द्वारा संस्कार सृष्टि उत्पन्न करनेके विषयमें नपुंसकके समान हो जाता है। जैसा कि भागवतमें लिखा हैः—

"भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो वीजाय नेष्यते"।

भूंजा हुआ तथा क्वथित धान अकुंरोत्पादनमें समर्थ नहीं

संस्कारपरिणामो वीजपरिणामवत् ॥ १८७ ॥
अकामे भृष्टवीजवत् ॥ १८८ ॥

होता है। कामना नाशके फलके विषयमें श्रीभगवान्‌ने निजमुखसे श्रीगीतोपनिषद्‌में कहा है:—

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥
नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शांतिमाप्नोति न कामकामी ॥

अस्वाभाविक संस्कारका मूल कारण वासना है। जीव जब पंचकोषकी पूर्णताको प्राप्त कर मनुष्य योनिमें आकर स्वाधीन हो जाता है तब वह पूर्ण शक्ति-विशिष्ट जीव नई नई वासनाओंको संग्रह करनेमें समर्थ होता है। वासनाकी प्रतिच्छाया जो अन्तःकरणमें पड़ती है उसीसे अस्वाभाविक संस्कार उत्पन्न होता है। यदि तत्त्वज्ञानके उदयसे वासना एकबार ही नष्ट हो जाय, तो उस जीवके द्वारा कर्म तो होते हैं, परन्तु वासनाके न रहनेसे उससे संस्कार संग्रह नहीं होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि, उसके कर्मोंके द्वारा जो कुछ संस्कार उसके अन्तःकरणमें अङ्कित होता है, वह भृष्ट बीजके समान होता है। जैसे भूना हुआ चना खानेके काममें तो आता है, परन्तु उससे अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है, वैसे ही वासना-रहित मनुष्यके द्वारा जो संस्कार संगृहीत होते हैं, उनसे फलकी उत्पत्ति नहीं होती है ॥ १८८ ॥

संस्कार-विमुक्ति कैसे होती है सो कहा जाता हैः—

क्रियामुक्तिसे उसकी विमुक्ति होती है ॥ १८९ ॥

जिस प्रकार आमका बीज (गुठली) बो देनेसे जब उसमें अङ्कुरोत्पत्ति होकर वृक्ष हो जाता है, तो उस बीजकी विमुक्ति समझी जा सकती है, उसी प्रकार संस्काररूपी कारणसे जब कर्म रूपी कार्य्य उत्पन्न हो जाता है, तब उस संस्कारकी विमुक्ति हो जाती है ऐसा समझना उचित है। वासना न रहनेसे संस्कारका संस्कारत्व ही ठीक नहीं रहता है, केवल नामके लिये तथा स्मृति उत्पन्न करनेके लिये वह संस्कार कहा जा सकता है; वस्तुतः वह संस्कार भृष्टबीजवत् होता है जैसा कि पहले कहा गया है। परन्तु वासनाके रहते हुए अर्थात् संस्कारके अपने पूर्ण स्वरूपमें रहनेपर वह विना कार्य्य उत्पन्न किये लयको प्राप्त नहीं होता है ॥ १८९ ॥

यदि वैसा न हो तो क्या होता है, सो कहा जाता हैः—

उसके अभावमें बीजस्थितिवत् होता है ॥ १९० ॥

यदि पूर्व सूत्रके विज्ञानके अनुसार बीजसे वृक्षकी उत्पत्ति न हो अर्थात् संस्कारसे क्रियारूपी भोग सिद्धि न होने पावे तो बीज-रक्षाके तुल्य होता है। जैसे कृषक लोग अन्नके बीजकी रक्षा करते हैं और देश कालके मिलने पर वह बीज बोया जाता है वैसे ही यदि अस्वाभाविक संस्कार समूहसे क्रियारूपी भोगकी उत्पत्ति न होने पावे तो वे सब संस्कार कर्माशयमें सुरक्षित रहते हैं ॥१९०॥

उनके स्थायित्वका रहस्य कहा जाता हैः—

संस्कारकी स्थितिमें सत्त्व और तमका हेतुत्व है ॥१९१॥

दो अवस्थाओंमें संस्कार क्रियाशील नहीं होते हैं-एक सत्त्वगुण-की अवस्थामें और दूसरे तमोगुणकी अवस्थामें। तमोभाव प्रकृतिके आश्रित है और सत्त्वभाव स्वरूपप्रवण है। परन्तु दोनों ही अद्वैत

क्रियामुक्तेस्तद्विमुक्तिः ॥ १८९ ॥
तदभावे बीजस्थितिवत् ॥ १९० ॥
सत्त्वतमसोर्हेतुत्वं संस्कारस्थितौ ॥ १९१ ॥

भावमय है। उदाहरण दिया जाता है कि, उद्भिज्जसे लेकर मनुष्य पर्य्यन्त जो अद्वैतभावमय क्रमोन्नति हो, वह तमोमय प्रकृतिकी आश्रितगति है। जीवन्मुक्त महापुरुष और सप्तमलोक प्राप्त महर्षि में शुद्ध सत्त्वभावमय अलौकिक स्वरूपप्रवण गति है। सहज पिण्ड और मुक्तात्मा इन दोनोंके साथ इन दोनोंका यथाक्रम सम्बन्ध है। दो अवस्थाके लिये दो उदाहरण दिये गये। एक अवस्था पूर्ण तमोगुणकी है और दूसरी पूर्णसत्त्वगुणकी है। यही दोनों अवस्थाएं पुनः ज्ञानी व्यक्तियोंमें भी रूपान्तरसे पायी जाती हैं। मुक्तात्माओंमें जो कर्मयोगी होते हैं वे कर्मके प्रवाहमें अपने आपको जड़वत् बहा देते हैं, और जो ज्ञानयोगी होते हैं वे सचेष्ट होकर आत्मानात्माका विचार करते हुए आगे बढ़ते हैं। श्रीगीतोपनिषदुक्त कर्मयोगी चतुर्विध भूतसंघके समान अग्रसर होते हैं और दोनों ही प्रकृति-प्रवाहके अधीन रहते हैं। और सांख्ययोगी सप्तमलोक-प्राप्त महात्माओंके सदृश ज्ञानको आश्रय करके आगे बढ़ते हैं। यथा श्री गीतोपनिषद्में कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति॥

अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोगको अज्ञानी लोग पृथक् पृथक् कहते हैं ज्ञानी नहीं। एकका अच्छी तरहसे अवलम्बन करने पर दोनों-का फल मिलता है, ज्ञानी लोग जिस स्थानको प्राप्त करते हैं, योगी भी उसीको प्राप्त करते हैं। जो सांख्य और योगको एक जानते हैं वे ही वास्तवमें जानते हैं।

संस्कारसे कैसे क्रिया की उत्पत्ति होती है, संस्कारके कितने प्रधान भेद हैं, संस्कारसे आवागमन चक्र और जन्मान्तरका क्या सम्बन्ध है, संस्कार होते हुये भी वह भृष्ट बीजवत् निष्फल कैसे हो जाता है और यदि भृष्टबीजवत् न हो और फलवान् भी न हो सके तो वह कैसे एकत्रित रहता है, यह सब विज्ञान पहले भली-भांति सिद्ध हो चुका है। अब पूज्यपाद महर्षि सूत्रकार यह दिखा

रहे हैं कि तत्त्वज्ञानी महापुरुषके कर्माशयके संस्कार समूह कैसे नाश न होनेपर भी क्रियाहीन होकर एकत्रित रह सकते हैं और उसको मुक्तिमें बाधा नहीं देते हैं । उदाहरणरूपसे जीवकी अवस्था की दो स्वतन्त्र स्वतन्त्र दशा ऐसी ऊपर दिखायी गयी है कि जिन दोनों दशाओंमें संस्कार निष्फल रहते हैं। उसी उदाहरणसे समझना उचित है कि तत्त्वज्ञानी महापुरुष दो श्रेणीके होते हैं। उन्हीं दोनों श्रेणियों की अवस्थामें संस्कार समूह एकत्रित रहनेपर भी निष्फल हो जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओंका उदाहरण श्रीगीतोपनिषद्से दिया जाता है:—

सर्वकर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नव द्वारे पुरे देही नैव कुर्व्वन्न कारयन् ॥
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

जितेन्द्रिय शरीरधारी मन द्वारा सर्व कर्मोंको त्याग करके नवद्वार विशिष्टपुरीके समान देहमें स्वयं न करते न कराते हुये सुखसे वास करते हैं। आसक्तिके त्याग पूर्वक ब्रह्ममें समर्पण करके जो कर्म करते हैं वे जलमें कमलपत्रवत् पापसे लिप्त नहीं होते हैं।

स्वस्वरूपके निकट पहुँचने योग्य महापुरुषोंमें ये दोनों अवस्थाएं स्वतः होती हैं। पहली अवस्था सांख्यकी है और दूसरी अवस्था योगकी है। पूर्व कर्मके अनुसार ये अवस्थाएं स्वतः उपस्थित होती हैं। किसीकी सांख्य-प्रधान अवस्था होती है और किसीकी योगप्रधान-अवस्था होती है। पहली अवस्था सत्त्वाश्रित है तथा दूसरी अवस्था तमाश्रित है। पहली अवस्थामें आत्मज्ञान एक मात्र अवलम्बनीय है और दूसरी अवस्थामें अपनी वासना छोड़कर प्रकृतिका प्रवाह एक मात्र अवलम्बनीय है। इन दोनों अवस्थाओंमें संस्कार रूपी बीज समूह सुरक्षित रह जाते हैं; देहीको अवलम्बन नहीं कर सकते हैं। और देही संस्कारके फन्देसे बच जाता है ॥ १६१ ॥

अब विपरीत अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं—

अङ्कुरोत्पत्तिका हेतु होनेसे रजोगुणमें उसकी सिद्धि नहीं होती है ॥ १६२ ॥

सत्त्वगुण और तमोगुण जिस प्रकार परिस्थितक पहुंच जाता है, उस प्रकार रजोगुण नहीं पहुंचता है। रजोगुण चार शक्ति-विशिष्ट है। रजोगुण ही सत्त्वगुण और तमोगुणमें क्रिया उत्पन्न करता है। इस कारण रजोगुणमें अङ्कुरोत्पत्ति हो जाती है। संस्काररूपी बीजमें जब रजोगुणरूपी जलका सिञ्चन होता है, तो बिना अङ्कुरोत्पत्ति हुए नहीं रह सकता है। इस कारण रजोगुणकी दशामें संस्कार समूह सदा क्रिया-शील और फलोन्मुख होते रहते हैं। जीवकी साधारण दशा सभी रजोगुणकी कोटिके ही समझे जा सकते हैं। जिसका फल आवागमनचक्रकी स्थिति है। और इस दशासे मनुष्यपिण्ड और देवपिण्डका सदा सम्बन्ध रहता है, जब तक मुक्ति न हो ॥ १६२ ॥

उससे क्या सिद्धि होती है सो कहा जाता है:—

उससे शुभ अथवा अशुभ होता है ॥ १६३ ॥

क्रियाशील रजोगुणसे प्रधानतः दो अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं। एक जीवके लिये शुभकारिणी और दूसरी अशुभकारिणी होती है। जैसे एक मात्र काल विभक्त होकर दिन और रात उत्पन्न करता है, उसी प्रकार रजोगुण शुभ और अशुभ फल उत्पन्न करता है, जीवकी जो क्रमोन्नति करे वह शुभ और जो बाधा दे वह अशुभ है। लोकान्तरमें यही शुभाशुभ फलकी उत्पत्ति भी करते हैं। और आवागमन-चक्रको चलाते रहते हैं ॥ १६३ ॥

अब सृष्टिकी हेतुभूता ब्रह्मशक्ति कैसी है सो कहा जाता है:—

अग्निकी दाहिकाशक्तिके समान ब्रह्मशक्ति अचिन्त्या है ॥ १६४ ॥

ब्रह्माण्ड और पिण्डसृष्टिका निकटस्थ कारण संस्कार का रहस्य

न रजसो तद्धेतुत्वात् ॥ १९२ ॥

ततः शुभंवाऽशुभं वा ॥ १९३ ॥

ब्रह्मशक्तिरचिन्त्या दाहशक्तिवदनलस्य ॥ १९४ ॥

वर्णन करके अब मौलिक रहस्यके परिज्ञात होनेके अभिप्रायसे सबसे प्रथम अचिन्त्या ब्रह्मशक्तिके विषयमें लक्ष्य करा रहे हैं। जिस प्रकार अग्निसे दाहिका शक्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती, जिस प्रकार अग्नि और दाहिका शक्ति अभिन्न है, और जिस प्रकार दहन आदि कार्य्य दाहिका शक्तिके द्वारा ही सम्पन्न होता है, और अग्निसे दाहिका शक्तिकी पृथक्ता अचिन्त्य है, उसी उदाहरणके अनुसार ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका अचिन्त्य सम्बन्ध समझना उचित है ॥१६४॥

अब सृष्टि कैसे अग्रसर होती है सो कहते हैं:—

पुरुषका सम्बन्ध अव्यक्तसे होता है ॥ १६५ ॥

अग्नि और दाहिका शक्ति जिस प्रकार अभिन्न है, उसी प्रकार जबतक अद्वैत भाव रहता है अथवा जहां अद्वैत भाव रहता है, वहां सृष्टिका सर्वथा अभाव होता है। सृष्टि आविर्भूत होते समय प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता अनुभूत होती है, वही निर्गुण अवस्थासे सगुण अवस्था की दशा है। वही अवस्था अव्यक्तसे पुरुषका सम्बन्ध होना कहाती है। उस समय अव्यक्त प्रकृति और सच्चिदानन्दमय पुरुषका सम्बन्ध स्थापित होता है।

जैसा कि उपनिषद्में कहा है—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।

प्रकृतिको माया और महेश्वरको मायी जानो। यही अवस्था सृष्टिका मूल कारण है। इसी अवस्थामें प्रकृतिका परिणाम प्रारम्भ होता है और इसी प्रकृति-आलिङ्गित पुरुष भावको सगुण ब्रह्म कहते हैं ॥ १६५ ॥

दूसरा परिणाम कह रहे हैं:—

उससे काल और व्यक्तका आविर्भाव होता है ॥१६६॥

प्रकृतिके दूसरे परिणाममें व्यक्त और कालका आविर्भाव होता है। प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम तीन गुण दिखाई देते हैं अर्थात् जब प्रकृति गुणमयी होकर स्वतन्त्रसत्ताको धारण करती है, वही प्रकृ-

---

पुरुषसम्बन्धोऽव्यक्तेन ॥ १६५ ॥

ततः कालो व्यक्तश्च ॥ १६६ ॥

तिकी व्यक्तावस्था कहाती है। इसी अवस्थामें कालका भी आविर्भाव साथ ही साथ होता है। क्योंकि बिना कालके प्रकृतिकी व्यक्तावस्था अनुभूत नहीं होती है। पूर्व कथित अवस्थामें प्रकृति अपनी स्वतन्त्रसत्ता दिखा कर निर्गुण ब्रह्मको सगुण पदवी दिलाती है और इस द्वितीय अवस्थामें अपनी अव्यक्त दशासे कालको प्रसव करती है। कालके परिचयके विषयमें स्मृति शास्त्रमें कहा है:—

तदेतत् सर्वमेवासीद् व्यक्ताव्यक्तस्वरूपवत्।
तथा पुरुषरूपेण कालरूपेण च स्थितम्॥
परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विजः।
व्यक्ताऽव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥
प्रधानपुरुषो व्यक्तः कालानां परमं हि यत।
पश्यन्ति सूरयः शुद्धं तद्विष्णोः परमं पदम्॥

अर्थात् व्यक्त, अव्यक्त, पुरुष और काल ये चतुर्विधात्मक सब ब्रह्म ही हैं। हे द्विज! परब्रह्मका प्रथम रूप पुरुष, द्वितीय और तृतीय रूप व्यक्त तथा अव्यक्त और चतुर्थ रूप काल है। प्रधान-पुरुष, व्यक्त, अव्यक्त, और काल इन चारोंका शुद्धरूप ज्ञानीगण अवलोकन करते हैं, वही विष्णुका परमपद है॥ १९६॥

अब देशका रहस्य कहा जाता है—

व्यक्त और देशका तादात्म्य है॥१९७॥

द्वैतभानकी उत्पत्ति होते ही प्रथम काल प्रकट होता है और उसके अनन्तर तथा साथ ही साथ देश प्रकट होता है। ब्रह्म-शक्तिरूपिणी ब्रह्मप्रकृति जब तक अद्वैतरूपसे ब्रह्ममें लीन रहती है और उसकी स्वतन्त्रसत्ता अनुभूत नहीं होती, वही अवस्था ब्रह्मपद-वाच्य है। उस अवस्थामें प्रकृति सम्पूर्ण रूपसे लीन रहती है। जब प्रकृतिकी स्वतन्त्रसत्ता प्रकट होती है, उस समय पुरुष और प्रकृतिके संयोगसे जो प्रथम अनुभव होता है वही कालका परि-चायक है; काल चित्सत्ताव्यञ्जक है। द्वैतभान होते ही कालका ज्ञान सबसे प्रथम होना स्वतः सिद्ध है। भाति और अस्ति दोनोंमें

व्यक्तदेशयोस्तादात्म्यम्॥ १९७॥

प्रथम भाति और उसके अनन्तर अस्तिका अनुभव होता है। इस कारण प्रथम कालकी उत्पत्ति होनेपर उसके अनन्तर व्यक्तभावापन्ना प्रकृतिके विलासक्षेत्ररूपी देशका अनुभव हुआ करता है। इस लिये यह कहना ही पड़ेगा कि, व्यक्तभाव और देश ये तादात्म्य-भाव युक्त हैं ॥ १९७ ॥

अब और परिणाम कहा जाता है:—

गुणसाम्यसे गुणव्यञ्जक महत् उत्पन्न होता ॥१९८॥

गुणका कार्य्य जब प्रकट होता है, उसी समय महत्‌की उत्पत्ति होती है। जैसा कि विष्णुपुराणमें लिखा है:—

गुणसाम्यात् ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! ।
गुणव्यंजनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ! ।
प्रधानतत्त्वमुद्‌भूतं महान्तं तत् समावृणोत् ।

परमात्माके अधिष्ठान द्वारा साम्यस्थ प्रकृतिमें वैषम्य होकर महत्तत्व उत्पन्न हुआ। सांख्यदर्शनमें लिखा है "प्रकृतेर्महान्" प्रकृतिसे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। इससे पूर्व्वावस्थामें त्रिगुणका साम्य रहता है। उस समय केवल भावातीत, बुद्धिसे अग्राह्य देश और काल-का अनुभव समझना उचित है। तदनन्तर परिणाममें त्रिगुणकी सत्ता स्वतन्त्ररूपसे प्रकट होते ही महत्तत्त्वकी उत्पत्ति हो जाती है। पूर्व्वापर विज्ञानको इस प्रकारसे भी समझ सकते हैं कि, जब प्रकृतिकी स्वतन्त्रसत्ता नहीं रहती और ब्रह्मप्रकृति ब्रह्ममें लीन रहती है, वही अद्वैत ब्रह्मसत्ता है। जब प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् प्रकट होती है वही सगुण अवस्था काल और देशका उत्पादक है; ये दोनों अवस्थाएं पूर्वापर निकटस्थ हैं। इस अवस्थामें प्रकृति तो प्रकट होती पर गुणकी स्वतन्त्रसत्ता प्रकट नहीं होती है। जब गुणकी व्यंजक अवस्था प्रथम प्रकट होती है, तब महत्तत्त्व प्रकट होता है। महत्तत्त्व-में सत्त्वका पूर्ण प्रकाश विद्यमान रहता है। गुणका कार्य्य इसी अवस्थासे प्रारम्भ होता है। वस्तुतः इसी अवस्थामें ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक सृष्टि प्रारम्भ होती है। शुद्ध सत्त्वमयी प्रकृतिमें

गुणसाम्याद्‌गुणव्यञ्जकं महत् ॥ १९८ ॥

इसी अवस्थासे द्रष्टादृश्यमय सम्बन्ध स्थापित होता है। "यो बुद्धेः परतस्तु सः" आदि शास्त्रोंसे जिस शुद्ध बुद्धिका निर्देश किया जाता है, उस परिशुद्ध बुद्धितत्त्वसे इस महत्तत्त्वका सम्बन्ध है ॥ १६८ ॥

विज्ञानको स्पष्ट कर रहे हैं:—

वह त्रिगुणात्मक है ॥१६६॥

महत्तत्त्व त्रिगुणव्यञ्जक होनेसे यह मानना ही पड़ेगा कि, महत्तत्त्वके आविर्भावके साथ ही साथ प्रकृतिके तीन गुण सत्त्व, रज, तम प्रकट हो जाते हैं। केवल गुणप्राकट्यका यह नियम है कि, जब तमोगुण प्रकट होता है तब सत्त्वरज अप्रकाशित रहते हैं, जब रजोगुणका प्राकट्य होता है, तब तम और सत्त्व अप्रकाशित रहते हैं और जब सत्त्वगुणका प्राकट्य होता है, तब रजोगुण और तमोगुण अप्रकाशित रहते हैं। महत्तत्त्व त्रिगुणात्मक होनेपर भी शुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान है। इस कारण इस अवस्थामें केवल सत्त्व-गुणका उदय रहता है अवशिष्ट दो गुण अस्त रहते हैं ॥१६६॥

और भी स्पष्ट कर रहे हैं—

त्वक् द्वारा वीजके आवृत होनेके समान अव्यक्त महत् द्वारा आवृत रहता है ॥२००॥

अव्यक्तभावापन्न प्रकृति ही दृश्यप्रपञ्चका मूल कारण है। पुरुष निर्लिप्त और उसका द्रष्टामात्र है। यही द्रष्टादृश्य सम्बन्धका प्रथम कार्य्य महत्तत्त्व है। वह महत्तत्त्व प्रकट होते ही अव्यक्तको इस प्रकारसे ढांक लेता है, जैसे त्वग् वीजको ढांक लेता है। त्वक्के रहनेसे यथार्थ वीज उसके भीतर छिपा रहता है। उसी प्रकार महत्तत्त्वके प्रकट होनेपर अव्यक्त भाव छिप जाता है। इसी कारण प्रकृति-पुरुषात्मक सृष्टि-लीलामें महत्तत्त्व ही सबसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रधानतत्त्व माना गया है। इस विज्ञानको समझनेके लिये ब्रह्म प्रकृतिकी अवस्थाओंको समझना आवश्यकीय है। प्रकृति जब

त्रिगुणं तत् ॥ १९९ ॥

अव्यक्तमावृतं महता त्वग्वीजवत् ॥ २०० ॥

ब्रह्ममें लीन रहती है, वही अद्वैत अवस्था प्रकृतिकी तुरीया अवस्था कहाती है। साम्यावस्था प्रकृति जब परिणामोन्मुखिनी होती है, वही ब्रह्मा-विष्णु-महेश-जननी हिरण्यगर्भकालादिप्रसविनी कारण-प्रकृति कहाती है। तीसरी अवस्था प्रकृतिकी व्यक्तावस्था है। वही सूक्ष्मप्रकृति कहाती है। यही प्रकृति जगत् प्रपञ्चका साक्षात् कारण है और स्थूल प्रकृतिमय प्रपञ्च उसका कार्य्य है। इस प्रकारसे ब्रह्म प्रकृतिको स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय रूपसे समझनेपर यह वाक्, मन, बुद्धिसे अगोचर सृष्टिविज्ञान अनुभवमें आ सकता है ॥ २०० ॥

तदनन्तरका परिणाम कह रहे हैं:—

उससे त्रिविध अहंकार प्रकट होता है ॥ २०१ ॥

स्वभावसे परिणामिनी प्रकृति अनन्तरके परिणाममें अहंतत्त्वको उत्पन्न करती है। और वह अहंतत्त्व त्रिगुणके अनुसार त्रिविध होता है। अहंतत्त्वसे ही जीवभावका प्राकट्य होता है। अहंतत्त्व-केद्वारा ही देही विराट् शरीरसे अपनेको स्वतन्त्र मान लेता है। भाति और अस्ति ये दोनों भाव एकमें मिलकर एक स्वतन्त्र सत्ता उत्पन्न करते हैं, वही अहंतत्त्व है। त्रिविध अहंकारके विषयमें स्मृतिशास्त्रमें इस प्रकारसे कहा है:—

> वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामस ।
> त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत ॥

अर्थात् सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इस प्रकार यह त्रिविध अहंकार महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुआ। प्रकृति ब्रह्मसे पृथक् होकर जब निर्गुण ब्रह्मको सगुण ब्रह्म बना लेती है और उस समय ब्रह्म और ब्रह्म-प्रकृतिकी पृथक् पृथक् सत्ता प्रतीत होने लगती है, उसी समय वस्तुतः प्रकृति-पुरुषात्मक शृंगारसे आनन्दमय कोषका उदय होता है और इसी अवस्थामें कहा जाता है कि, आनन्दमय कोषने आत्माको ढांक लिया है। उसके अनन्तर आत्मा-प्रतिबिम्बित शुद्ध सत्त्वमयी प्रकृति महत्तत्त्व कहाती है। इस अवस्थामें

तस्मात्त्रिविधोऽहङ्कारः ॥ २०१ ॥

कहा जाता है कि आनन्दमय-कोष-सहित आत्माको विज्ञानमय कोषने ढक लिया है। उसके अनन्तर जब जीवकी स्वतन्त्र सत्ता अस्मिताके द्वारा स्थिरीकृत हो जाती है, उस समय त्रिगुणात्मक त्रिविध अहंकार रूपी अहंतत्वका उदय होता है। और इसी अवस्थामें कहा जाता है कि, मनोमयकोषने अन्य दो कोषोंसे आवृत आत्माको ढक लिया है। पूर्व दशामें जैसी बुद्धिका उदय हो जाता है, इस दशामें वैसा मनका उदय हो जाता है।

किसी शास्त्रमें आत्माको आनन्दमयकोष तदनन्तर विज्ञानमयकोष और तदनन्तर मनोमयकोषके आवृत करनेका वर्णन पाया जाता है। और किसी शास्त्रमें ऐसा पाया जाता है कि, आत्मा प्रधान महत्को ढकता है और महत् त्रिविध अहङ्कारको ढकता है। इस परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तका समन्वय क्या हो सकता है? इस श्रेणीकी शंकाओंका समाधान यह है। पञ्चकोषके द्वारा आत्माका आवरण स्वाभाविक है और आनन्दमयकोषसे विज्ञानमयकोषका स्थूल होना और विज्ञानमय कोषसे मनोमय कोषका स्थूल होना विज्ञान-सिद्ध है। अतः सूक्ष्मको स्थूल ढकता है, यह भी वैज्ञानिक सिद्धान्तसे युक्त है और जो दार्शनिक सिद्धान्त इससे विरुद्ध मानते हैं अर्थात् जो कहते हैं कि, प्रथम महत्को ढकता है इत्यादि वह भी युक्ति-विरुद्ध नहीं है। उनका सिद्धान्त यह है कि, जिस प्रकार आकाश वायुमें ओतःप्रोत है और वायु जगत्में ओतःप्रोत है इत्यादि उसी प्रकार यह भी सिद्धान्त हो सकता है ॥२०१॥

तत्पश्चात्का परिणाम कह रहे हैं:—

उसके अनन्तर सूक्ष्म प्रपञ्च प्रकट होता है ॥ २०२ ॥

त्रिविध अहङ्कारसे यथाक्रम किस प्रकारसे सूक्ष्म प्रपञ्चका उदय होता है, उसके विषयमें वेद और शास्त्रोंमें अनेक वर्णन पाये जाते हैं। जिसका सारांश यह है। तामस अहंकारने विकारको प्राप्त होकर शब्दतन्मात्राकी सृष्टि की, शब्दतन्मात्रासे शब्दगुण-विशिष्ट आकाशकी सृष्टि हुई। आकाश विकारको प्राप्त हो स्पर्श तन्मात्राको उत्पन्न किया उससे स्पर्शगुण-विशिष्ट वायु उत्पन्न

ततः सूक्ष्मप्रपंचः ॥२०२॥

हुई । तदनन्तर वायुके विकृत होनेसे रूपतन्मात्रा और ज्योति उत्पन्न हुई । ज्योतिमें विकार होनेसे रसतन्मात्रा उत्पन्न हुई उससे रसगुण-विशिष्ट जल उत्पन्न हुआ । जलमें विकार उत्पन्न होनेसे गन्ध-तन्मात्राकी सृष्टि हुई उससे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई, जिसका गुण गन्ध है । सूक्ष्म भूतका दूसरा नाम तन्मात्रा है । दश इन्द्रिय राजस अहंकारसे उत्पन्न हुए हैं और सात्त्विक अहंकारसे इन्द्रियोंके दश देवताओंकी उत्पत्ति कही जाती है । बिना चेतनकी सहायतासे जड़में क्रिया नहीं होती है । जिस प्रकार परम पुरुषके बिना मूल-प्रकृति कार्य्य नहीं करती है, पुरुषके लिये ही प्रकृति कार्य्य करती है, यह सांख्यका सिद्धान्त है; उसी प्रकार प्रकृतिके सब विकारसे उत्पन्न जो तत्त्व हैं, उन तत्त्वोंके भी पृथक् पृथक् देवता हैं, वे ही उनके अधिदैव कहाते हैं और उनके पदमें सात्त्विक अहंकार स्थित रहता है। और राजसिक अहंकारसे दश इन्द्रियां उत्पन्न हुईं, यह स्वतःसिद्ध है, क्योंकि रजोगुणका धर्म क्रिया है और इन्द्रियों-के द्वारा ही प्रपञ्चमें क्रिया होती है । इस प्रकारसे अहंकारसे सूक्ष्म प्रपञ्चकी सृष्टि होती है । इस विज्ञानको अन्य तरहसे भी समझ सकते हैं कि, आनन्दमयकोष और विज्ञानमयकोष कारण प्रपञ्च हैं और मनोमयकोष तथा प्राणमयकोष ये सूक्ष्म प्रपञ्च हैं । प्राण ही इन्द्रियादिकी यावत् क्रिया उत्पन्न करता है । इस कारण प्राणमयकोष भी सूक्ष्म प्रपञ्चके अन्तर्गत है ॥२०२॥

अब अन्तिम परिणाम कह रहे हैं ।

स्थूल अन्तमें उत्पन्न होता है ॥२०३॥

पञ्चीकृत महाभूतका कार्य्य स्थूल प्रपञ्च कहाता है । ब्रह्माण्ड और पिण्ड उसका स्वरूप है । स्थूल शरीरका वर्णन पहले बहुत कुछ आ चुका है और पिण्ड कितने प्रकारके हैं उसका भी वर्णन पहले आ चुका है । यही पिण्ड समूह और ब्रह्माण्डका स्थूलांश जिसके साथ स्थूल प्रकृतिका सम्बन्ध है अर्थात् जो कुछ सूक्ष्म प्रकृतिका कार्य्यरूप है, वेही सब स्थूल प्रपञ्च कहाते हैं ॥२०३॥

स्थूलजातमन्ते ॥२०३॥

सृष्टि-प्रसङ्गसे कहा जाता है:—

ब्रह्माण्डका उत्पत्ति-विनाश पिण्डवत् होता है ॥२०४॥

संस्कार रूप कारणसे जैसे पिण्डकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है। सञ्चित संस्कार आगे बढ़कर जब अङ्कुरित होते हैं, वे ही प्रारब्ध कहाते हैं। और प्रारब्धके द्वारा ही मनुष्यको पिण्ड रूपी स्थूल शरीर प्राप्त होता है। उसी प्रकार "यथा पूर्वमकल्पयत्" रूपी वैदिक विज्ञानके अनुसार एक ब्रह्माण्डके पूर्व संस्कारोंको स्मरण करके ब्रह्मारूपी सगुणब्रह्म एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। प्रारब्ध-भोग होनेके अनन्तर जैसे पिण्डका नाश होता है, उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डका समष्टिप्रारब्ध भोग हो जानेके अनन्तर वह ब्रह्माण्ड भी महाप्रलयके गर्भमें लय हो जाता है ॥ २०४ ॥

प्रसङ्गसे ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका कारण स्पष्ट कर रहे हैं—

कारण वारि जन्मका हेतु है ॥ २०५ ॥

मनुष्यपिण्ड और देवपिण्डके साथ जिस प्रकार कर्माशयका सम्बन्ध है, उसी उदाहरणके अनुसार ब्रह्माण्डके साथ कारण-वारिका सम्बन्ध समझना उचित है। जीवके कर्माशय रूपी कोषमें अनन्तकोटि जन्मके कर्मबीज-संस्कार सुरक्षित रहते हैं, उनमेंसे जो संस्कार प्रारब्ध बनकर ऊपरके स्तरमें आजाते हैं वे ही नवीन पिण्डको उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार एक ब्रह्माण्डका समष्टि संस्कार कारण-समुद्र अथवा कारणवारि कहाता है, भगवान् मनुने कहा है:—

> अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।
> तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ॥

सबसे प्रथम जलकी सृष्टि की गयी है, उसमें बीज डाला, सूर्यके समान प्रकाशमान हिरण्यमय अण्ड हुआ, एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होते समय उस कारणसमुद्रसे संस्कारराशि एकत्रित होकर एक

पिण्डवदुत्पत्तिविनाशौ ब्रह्माण्डस्य ॥२०४॥

कारणवारि जन्महेतुः ॥ २०५ ॥

ब्रह्माण्डके समष्टि प्रारब्धको उत्पन्न करते हैं। अतः कारण-समुद्र ही एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका हेतु है ॥ २०५ ॥

प्रसङ्गसे कहा जाता हैः—

उसमें त्रिमूर्त्ति प्रकट होती है ॥ २०६ ॥

एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिका कारणरूप समष्टि प्रारब्ध वीज अङ्कुरित होकर जब उस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति प्रारम्भ होती है, उस समय पूर्वोल्लिखित विज्ञानके अनुसार प्रकृतिका परिणाम समष्टि रूपसे होता है। उस त्रिगुणात्मक परिणामके अनुसार तीनों गुणोंके अधिष्ठाता रूपसे ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिदेव आविर्भूत होते हैं। जैसा कि मनु भगवान्‌ने कहा हैः—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

वह बीज सूर्यके समान चमकने वाला, सोनेकासा अण्डा बन गया। उसमें सब लोकोंका सिरजने वाला ब्रह्मा स्वयं आविर्भूत हुआ। ये ही तीनों वस्तुतः ब्रह्माण्डके ईश्वर होते हैं। एक सृष्टि-कार्य्य, दूसरे स्थिति-कार्य्य, तीसरे प्रलय-कार्य्यके अधिनायक होते हैं। उस ब्रह्माण्डका अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत, सब प्रपञ्च यथाक्रम उन्हींके आज्ञाधीन रहता है ॥ २०६ ॥

प्रसंगसे और भी कहा जाता है—

तत्पश्चात् चतुर्दश भागसम्पन्न गोलक उत्पन्न होता है ॥२०६॥

दृश्य प्रपंचका मौलिक अधिदैव स्वरूप वर्णन करके अब उसका अधिभूत स्वरूप कहा जाता है। त्रिमूर्त्तिके प्रकट होनेके साथही साथ चतुर्दश भागमें ब्रह्माण्ड-गोलक विभक्त होता है। कारण अवस्थामें प्रकृति त्रिगुणात्मिका होने पर भी कार्य्य सप्त भागमें विभक्त होते हैं। काल, यथा सप्ताहमें विभक्त है, रश्मि, यथा सप्त ज्योतिमें विभक्त है, अन्धकार, जिस प्रकार सप्त छायामें विभक्त है; ज्ञान और अज्ञान जिस प्रकार सप्त सप्त भूमिकाओंमें विभक्त

तत्र त्रिमूर्त्तिः ॥ २०६ ॥
ततश्चतुर्दशकलं गोलकम् ॥ २०७ ॥

हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी सप्तदेवलोक और सप्त असुरलोकमें विभक्त है। ये ही चतुर्दश भुवन कहाते हैं ॥ २०७॥

त्रिमूर्त्तियोंमें उत्पादक कौन है सो कहा जाता है—

ब्रह्मा उत्पादक हैं ॥ २०८ ॥

जब ब्रह्मप्रकृति तुरीया अवस्थामें रहती है अर्थात् ब्रह्ममें लीन रहती है, तब वही अद्वैतपद ब्रह्म कहाता है। तदनन्तर जब प्रकृति तुरीया अवस्थाको त्याग करके सूक्ष्मावस्थाको धारण करती हुई स्वतन्त्र रूपसे अपना वैभव प्रारम्भ करती है, तब प्रकृतिकी उस सूक्ष्मावस्थामें प्रकृति-आलिङ्गित परम पुरुष ईश्वर, पुरुष-विशेष अथवा प्रजापति कहाते हैं। तदनन्तर जब प्रकृतिके कारण अवस्थामें त्रिगुणका विकार स्पष्ट हो जाता है, और तीनों गुण अपने स्वतन्त्र स्वतन्त्र कार्य्यमें तत्पर होते हैं, तब उन्हीं तीनों गुणोंके अधीश्वर त्रिमूर्त्ति कहाते हैं। उन तीनोंमेंसे भगवान् ब्रह्मा प्रथम हैं। इस विषयमें श्रुतिने कहा है कि—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।"
"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्।"
"यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।"

समस्त दैवीसृष्टिके पहले विश्वकर्त्ता भुवनगोप्ता ब्रह्मा प्रकट हुए। परमात्माने ब्रह्माको ही प्रथमतः प्रकट किया। जो ब्रह्माको प्रथम प्रकट करता है। रजोगुणसे सृष्टि होती है क्योंकि रजोगुण प्रवृत्ति मूलक है। सुतरां रजोगुणके अवलम्बनसे सगुण ब्रह्मका जो स्वरूप कार्य्य करता है, वही श्रीभगवान् ब्रह्मा हैं। एक ब्रह्माण्ड-का यावत् राजसिक कार्य्य उन्हींके अधिष्ठानसे सुसिद्ध होता है। सृष्टि विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये कहा जाता है कि, जब अद्वैत स्वस्वरूपसे द्वैतभावमय दृश्यप्रपञ्चका उदय होता है उस सृष्टिकी प्रथम अवस्थाको दो स्तरमें विभक्त कर सकते हैं। एक प्रजापति अर्थात् सगुण ब्रह्मकी सृष्टि और तदनन्तर जगत् कर्त्ता ब्रह्माकी सृष्टि। सबसे प्रथम ब्रह्माण्ड गोलककी आदि अवस्था

उत्पादको ब्रह्मा ॥ २०८ ॥

अर्थात् जीवोत्पत्तिसे पहले जीवके वासोपयोगी अण्ड-गोलक सगुण ब्रह्मकी इच्छा-अनिच्छारूप इच्छासे अर्थात् प्रकृतिके स्वभावसे प्रकट होता है। यह सृष्टिका प्रथम स्तर है। तदनन्तर उस ब्रह्माण्डमें त्रिमूर्त्तिका आविर्भाव होते ही वह गोलक दो भागमें विभक्त होकर जब सप्त ऊर्द्ध्वलोक तथा सप्त अधोलोक इस प्रकार चतुर्दश भुवनोंमें विभक्त होता है और उन भुवनोंमें त्रिविध जीवपिण्ड समूह प्रकट होते हैं तब वह सृष्टि ब्राह्मी सृष्टि कहाती है। ब्राह्मी सृष्टिसे ही यथार्थमें जीवसृष्टि प्रारम्भ होती है, जिसके त्रिविध पिण्डोंका वर्णन पहले आचुका है ॥ २०८ ॥

स्थितिकर्त्ता कौन है सो कहा जाता है:—

विष्णु स्थितिकरनेवाले हैं ॥२०९॥

यह पहले ही सिद्ध हो चुका है कि, रज और तमकी जहां समता होती है वहीं सत्त्वगुणका उदय होता है। रजसे सृष्टि और आकर्षण तथा तमसे लय और विकर्षणका सम्बन्ध है। उदाहरण-की रीतिपर समझ सकते हैं कि, सृष्टि होते समय सब परमाणुओंका आकर्षण होता है और लय होते समय सब परमाणुओंका विकर्षण होता है। जब इन दोनों क्रियाओंका समन्वय होता है, तभी ब्रह्माण्डपिण्डात्मक सृष्टिकी स्थिति अवस्था बनी रहती है। सत्त्व-गुणका ही यह कार्य्य है। सृष्टिकी इस सात्त्विक क्रियाके अधि-ष्ठाता श्रीभगवान् विष्णु हैं। सृष्टि प्रपंचमें जो कुछ सत्त्वगुणका कार्य्य है, वह उन्हींके अधिष्ठानसे होता है ॥ २०९ ॥

अब प्रलय करने वाला कौन है सो कहा जाता है:—

रुद्र संहार करने वाले हैं ॥ २१० ॥

सृष्टि, स्थिति, लय इन तीनोंमेंसे अन्तिम क्रिया प्रलयकी है। इस कारण शास्त्रोंमें प्रमाण मिलता है कि रुद्रकी आयु सबसे बड़ी है। ब्रह्माण्डपिण्डात्मक सृष्टि प्रपंचमें जहां कहीं कुछ लयकी क्रिया होती है, उन सबोंके अधिष्ठाता श्रीभगवान्रुद्र हैं। ब्रह्मा,

---

स्थितिहेतुर्विष्णुः ॥ २०९ ॥

संहर्त्ता रुद्रः ॥ २१० ॥

विष्णु, महेश, ये तीनों पद हैं और ये तीनोंके पदधारी ही एक ब्रह्माण्डके ईश्वर कहाते हैं। एक रुद्रकी आयुके परिमाण एक ब्रह्माण्डकी आयु होती है और एक रुद्रकी आयुमें अनेक विष्णु बदल जाते हैं और एक विष्णुकी आयुमें अनेक ब्रह्मा बदल जाते हैं परन्तु ये तीनों पद नित्यस्थित हैं। अनादि अनन्त प्रकृतिराज्यमें सादि सान्त एक ब्रह्माण्डके ये तीनों सादि सान्त पदधारी सगुण ब्रह्म ही कहाते हैं। जिस प्रकार प्रकृतिके परिणामके लिये पुरुषकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक गुणकी क्रियाके लिये भी एक अधिदैवका होना अवश्य सम्भावी है। इसी नियमके अनुसार प्रलय-कारक तमोगुणके अधिष्ठाता श्रीभगवान् शिव हैं ॥ २१० ॥

प्रसङ्गसे सर्गका मौलिक विभाग निर्णय किया जाता है:—

स्थावर सृष्टि सप्त धातुमय है ॥ २११ ॥

स्थावर सृष्टि पूर्वकथित मौलिक सर्ग विभागके अनुसार सप्त धातुमें विभक्त होती है। सृष्टि दो प्रकारकी होती है, एक स्थावर और दूसरा जंगम अर्थात् एक जड़ भावापन्न और एक चेतन भावापन्न। प्रस्तर, मृत्तिका आदि स्थावर-सृष्टिके अन्तर्गत है और यावत् पिण्ड पिण्डसृष्टि जङ्गमसृष्टिके अन्तर्गत हैं। स्थावरसृष्टिमें सुवर्णादि सप्त धातुओंका प्राधान्य है, और उन्हीं धातुओंके तारतम्यसे उनमें वैद्युतिक शक्ति आदि स्थूल शक्तियोंका तारतम्य होता है और उसी तारतम्यके अनुसार उनमें गुणका विकाश होता रहता है। पूज्यपाद आचार्य्योंका यह सिद्धान्त है कि, जितनी स्थावर सृष्टि है, उनमें सुवर्ण,लोहा आदि सात धातुओंका तारतम्य रहता ही है। और उसीके अनुसार उनमें ताड़ित आदि सप्त स्थूल शक्तिका आकर्षण और विकर्षण होता रहता है, तदनुसार उनमें वैसे ही गुणोंका विकाश भी होता रहता है। इन्हीं सप्त धातुओंके तारतम्यसे यावत् स्थावर सृष्टिसे फलोत्पत्ति होती है।

शंका समाधानके लिये कहा जा रहा है कि, संसारमें और भी

स्थावरसर्गः सप्तधातुमयः ॥ २११ ॥

जो धातु प्रतिधातु सुननेमें आते हैं और दिन प्रतिदिन उनका आविष्कार भी होता जाता है, और पदार्थविद्या यह सिद्ध करती है कि, धातु अनेक हैं इसका समाधान क्या है ? पूज्य महर्षियोंका समाधान यह है कि, संसारमें जितने नये धातु और उपधातु हैं और जिनका आविष्कार भविष्यतमें होगा, वे सभी शास्त्रोक्त सप्त धातुके अन्तर्विभाग समझे जायंगे। वस्तुतः उनमें भी इन प्रधान सप्त धातुओंका रूपान्तर रहता है। दूसरी शंका स्थूल प्रकृतिके सप्त विभागके विषयमें हो सकती है। उसका समाधान यह है कि, तुरीयशक्ति, कारणशक्ति और सूक्ष्मशक्तिके अतिरिक्त जो पञ्चीकृत पञ्चभूतोंमें तथा स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टिमें व्याप्त स्थूलशक्तियां हैं; पूज्यपाद धर्माचार्य्योंने उस स्थूल शक्तिको भी सप्त भागोंमें विभक्त किया है। वैद्युतिक आदि स्थूल शक्तियां उसी शक्तिके अन्तर्गत हैं। पदार्थविद्याके जाननेवालोंको इन शक्तियोंका कुछ कुछ पता लगता जाता है। परन्तु लौकिक सृष्टिसे इन सबोंका ठीक ठीक पता लगना सम्भव नहीं है। इन्हीं स्थूल शक्तियोंकी सहायतासे स्थूल प्रपञ्चमें यावत् परिणाम हुआ करते हैं। वह परिणाम चाहे सृष्टिमूलक हो, चाहे स्थिति मूलक हो, चाहे लय-मूलक हो, सभी उन्हीं शक्तियोंकी सहायतासे हुआ करती है। और स्थूल प्रपञ्चमें सप्त धातुओंकी सहायतासे ही इनका आकर्षण विकर्षण होता है ॥ २११ ॥

अब दूसरेको कह रहे हैं:—

जङ्गम भी उसी प्रकार है ॥ २१२ ॥

जिस प्रकार स्थावरमें सुवर्णादि सप्त धातुका सम्बन्ध है, उसी प्रकार जङ्गममें रक्त-मांसादि सप्त धातु स्वभावसिद्ध है। आयुर्वेद शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि रक्त, अस्थि, मज्जा आदि सप्त धातु द्वारा ही सब प्रकारके पिण्ड स्वस्थ रहते हैं, और इन्हीं सातों धातुओंके द्वारा जीवका स्थूल शरीर निर्मित होता है। उक्त उपवेदका यह भी सिद्धान्त है कि, शरीरमें सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंके प्रतिनिधि

तथा जङ्गमः ॥ २१२ ॥

रूपसे यथाक्रम पित्त, वात और कफ ये तीनों विद्यमान हैं। जिस प्रकार सत्त्व, रज, तम इन तीनोंकी समता होनेसे प्रकृति साम्यावस्थामें पहुंचती है, और प्रकृतिके साम्यावस्थासे ही मुक्तिपदका उदय होता है, उसी प्रकार स्थूल शरीरमें पित्त, वात और कफ इन तीनोंकी समतासे शरीर स्वस्थ रहता है और यहां तक कि इन तीनोंकी समता मुक्तिपदको भी उदय करनेमें सहायक होती है। उसी शास्त्रका यह भी सिद्धान्त है कि पित्त, वात और कफकी समतासे ही रक्त मांसादि सप्तधातुओंका सामञ्जस्य शरीरमें बना रहता है और उसीसे स्वास्थ्यकी रक्षा होती है। किसी किसी आयुर्वेदाचार्य्यकी यह सम्मति है कि पुरुषमें सप्तम धातु वीर्य्य है और स्त्रीमें वीर्य्य और रज दोनों होनेसे उनमें आठ धातुओंका होना सिद्ध होता है। यही स्त्रीजातिकी सृष्टिक्रियामें विशेष शक्तिका परिचायक है। परन्तु स्त्रीजातिमें जो रज होता है, उसको वीर्य्यके अन्तर्गत ही माननेसे सप्त धातु-विज्ञानका विरोध नहीं हो सकता है ॥ २१२ ॥

और भी कहा जाता है:—

ओंकारसे सप्तविध शब्दमयी सृष्टि होती है ॥ २१३ ॥

प्रकृत विज्ञानकी पुष्टिके लिये सृष्टि-प्रकरणके और भी विभाग को दिखाया जाता है कि, शब्दमयी सृष्टि जो प्रथम उत्पन्न होती है उसके भी षड्ज, ऋषभ, गान्धार, आदि सात विभाग हैं। प्रणवकी उत्पत्तिके विषयमें शास्त्रकारोंने ऐसा कहा है:—

> कार्य्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत्स्पन्देन सव्यापकं।
> स्पन्दश्चाऽपि तथा जगत्सु विदितःशब्दान्वयी सर्वदा ॥
> सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वाद्भूत्स्पन्दिनी।
> शब्दश्चोद्भवत्तदा प्रणव इत्योंकाररूपः शिवः ॥

अर्थात् जहां कुछ कार्य्य होता है, वहां कम्पन होता है जहां कम्पन है वहां शब्द अवश्य होगा। सृष्टि-क्रिया एक प्रकारका कार्य्य है और प्रकृतिके प्रथम हिल्लोलसे जो कम्पन होता है, तथा उससे जो कुछ शब्द होता है, वही मंगलकारी ओंकाररूप प्रणव है।

ओंकारतः शब्दसर्गः सप्तविधः ॥ २१३ ॥

साम्यावस्था प्रकृतिसे जिस प्रकार प्रणवका सम्बन्ध है वैषम्या-वस्था प्रकृतिसे उसी प्रकार सप्त स्वरोंका सम्बन्ध है। शब्दमयी सृष्टिका मूल कारण षड्जादि सप्त स्वर हैं और ये ही सप्त स्वर प्रणवसे उत्पन्न और प्रणव ध्वनिके विभागरूपसे माने गये हैं। यावत् शब्द सृष्टिका मूल कारण सप्त स्वर हैं। इसका प्रमाण यह है कि, ऐसा कोई शब्द नहीं है कि, जो सप्त स्वरग्रामके द्वारा प्रकट नहीं किये जायं। सुतरां एक अद्वितीय ओंकारसे सप्त त्रिभ स्वरकी उत्पत्ति होकर यावत् शब्द-सृष्टि प्रकट होती है ॥२१३॥

तथा—

अन्य उसी प्रकार हैं ॥२१४॥

रसादिकी सृष्टि भी सात सात प्रकारका है। शब्दसृष्टिसे-अतिरिक्त अन्य सब प्रकारकी सृष्टियां भी इसी वैज्ञानिक नियमके अनुसार सप्त विभागोंमें विभक्त देखी जाती है। यथा शास्त्रोंमें प्रमाण है-

"एवं यथार्थस्त्वेकाऽद्वितीयाऽहं न संशयः। अन्ये भेदाश्च भो देवाः? श्रूयन्तां सप्तधा मम ॥ स्थूलसूक्ष्मप्रपंचेषु व्याप्ताऽस्मि सप्तरूपतः। अज्ञान-ज्ञानयोरस्मि भूमयः सप्त सप्त च ॥ ऊर्द्ध्वलोकाश्च ये सप्त ह्यधोलोकाश्च-सप्त ये। अहमेवाऽस्मि ते सर्वे सप्तप्राणास्तथैव च ॥ सप्त व्याहृतयः सप्त समिधः सप्तदीप्तयः। अहमेवाऽस्मि भो देवाः? सप्त होमा न संशयः ॥ वारा वै सप्त भूत्वाथ कालं हि विभजाम्यहम्। सप्तभूम्यनुसारेण ज्ञानस्य त्रिदिवौकसः ॥ सप्त ज्ञानाधिकाराश्चोपासनायास्तथैव ते। सप्त कर्माधिकाराश्च सर्वे ते ऽस्म्यहमेव भोः।"

महाशक्ति भगवती कहती है—वास्तवमें मैं निःसन्देह एक और अद्वितीय हूं! हे देवतागण! मेरे सात प्रकारके भेद सुनिये। मैं सप्तरूपसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें परिव्याप्त हूं! सप्त ज्ञान-भूमि मैं हूं और सप्त अज्ञानभूमि भी मैं हूँ,। जो सप्त ऊर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक हैं वे सब मैं ही हूं और उसी प्रकार हे देवगण! सप्तप्राण, सप्तदीप्ति, सप्तसमिधा, सप्तहोम और सप्त व्याहृति, निश्चय मैं ही हूं और सप्त दिन होकर मैं ही कालको विभक्त करती हूँ। हे देवगण! सप्त ज्ञानभूमिके अनुसार कर्म, ज्ञान और उपासना-

तथेतरे ॥२१४॥

के सप्त अधिकार में हूं। इस प्रकारसे स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्चमें सब जगह सात सात भेद सुगमतासे अनुभव करने योग्य है। जैसे पिण्डान्तर्गत सप्त धातु तथा स्थावर ब्रह्माण्डमें सप्तधातु होकर सृष्टि सात भागोंमें विभक्त होती है और स्वरसृष्टि भी सप्त विभागमें ही है जैसा कि पहले कहा गया है, वैसे ही ऊपर कथित शास्त्रीय वचनोंसे भी अन्तर्जगत् तथा वहिर्जगत् सभी जगह सृष्टिके सात सात भेद होना प्रमाणित होता है ॥ २१४ ॥

रूपसृष्टिका विशेषत्व कह रहे हैं—

ब्रह्माण्डकी तरह रूप-सृष्टि चौदह विभागमें विभक्त है ॥२१५॥

सृष्टिके नाना अङ्गोंके सप्त विभागोंका वर्णन करके अब रूपका रहस्य वर्णनके अर्थ कहा जाता है कि, ब्रह्माण्ड जिस प्रकार चतुर्दश विभागमें विभक्त है, उसी प्रकार रूपसृष्टि भी चतुर्दश विभागमें विभक्त है। यह ब्रह्माण्ड चतुर्दश लोकमय है। ऊपरके भूः भुवः आदि सप्त लोक और नीचेके अतल, वितल आदि सप्त लोक हैं। ऊपरके सप्तलोक देवलोक और नीचेके सप्त लोक आसुरी लोक कहाते हैं। ये दोनों श्रेणीके लोक मिलकर चतुर्दश भुवन कहाते हैं। दृश्यमयी सृष्टि सब रूपमयी है यह विज्ञान-सिद्ध है। इस कारण रूपसृष्टि भी चतुर्दश भागमें विभक्त होना युक्ति-सङ्गत है। वे ही चतुर्दशरूप सृष्टिके दो विभाग हैं यथा सप्त ज्योति और सप्त छाया। शास्त्रोंमें लिखा है कि, सूर्य्यदेवके सम्मुख रथमें सप्त ज्योतिरूपसे सप्त अश्व रथको खेंचते हैं और उनके रथके पीछे सप्त छाया रहा करती है। तात्पर्य्य यह है कि, प्रकाश सप्त ज्योतिर्मय है और अन्धकार सप्त छायामय है। चित्रकारी विद्यामें भी सप्तरङ्ग और सप्त छाया बनाकर दृश्य बनाया जाता है। सुतरां यावत् रूपसृष्टि इस प्रकारसे चतुर्दश विभागमें विभक्त है ॥ २१५ ॥

और भी कहा जाता है—

शब्द और रूपका आधिक्य है विश्वके नामरूपात्मक होनेसे ॥२१६॥

सृष्टि प्रपञ्च तथा उसके सब विभाग नाम रूपात्मक है। जहां

रूपसर्गश्चतुर्दशविधो ब्रह्माण्डवत् ॥ २१५ ॥

आधिक्यं शब्दरूपयोर्नामरूपात्मकत्वाद्विश्वस्य नामरूपात्मकत्वाद् विश्वस्य ॥२१६॥

सृष्टि है और जो कुछ सूक्ष्मपदार्थ हैं, उसका नाम भी है और रूप भी है, न विना नामके दृश्य हो सकता है और न विनारुपके दृश्य हो सकता है। सुतरां यह संसार नाम रूपात्मक है यह स्वतः सिद्ध है। इस कारण नाम रूपका विस्तार सबसे अधिक होगा इसमें सन्देह ही क्या है। संस्कारजन्य समष्टि व्यष्टि सृष्टिमें नामरूपका ही अति विस्तार है। इस सूत्रोक्त विज्ञानके समझनेके लिये सबसे पहले यह समझना उचित है कि मनवाणीके अगोचर अद्वितीय ब्रह्मपदमें जब द्वैतप्रपञ्च प्रकट होता है वह नामरूपात्मक ही होता है। और जो कुछ दृश्य प्रकट होता है सो पूर्व संस्कार-जन्य ही होता है। इस कारण संस्कार-जन्य सृष्टि सभी नामरूपके आश्रयसे चलती है। जब कारणमें नामरूप है तो कार्यमें भी नामरूपका आधिक्य होगा इसमें सन्देह ही क्या। जब तक सृष्टिका अस्तित्व है तब तक नाम रूपको भी अस्तित्व है। वह नामरूपात्मक विज्ञान सत्यमूलक है ऐसा देखनेमें भी आता है। जिस पदार्थका जैसा बाहरी रूप होता है, उसका भीतरी रूप भी ऐसा ही पाया जाता है। उसी विज्ञानके अनुसार रूप देखकर मनुष्यकी प्रकृति पहचानी जाती है। इसी विज्ञानके अनुसार आर्यजातिमें नामकरणकी रीति प्रचलित है और इसी कारण नामकरण एक संस्कार माना गया है जिसका वर्णन पहिले आचुका है।

इस सूत्रमें विश्वके नामरूपात्मक होनेके विषयमें जो द्विरुक्ति है वह नामरूपात्मक विज्ञानकी अधिकतर पुष्टि तथा महत्त्व प्रति-पादनार्थ ही की गयी है ऐसा समझना चाहिये॥ २१६॥

इति श्रीमहर्षि-भरद्वाज-कृत-कर्म्ममीमांसा दर्शनके भाष्यके भाषानुवादका संस्कारपाद नामक द्वितीय पाद समाप्त हुआ।